प्राचीन दिगम्बराचार्य और उनकी साहित्यसाधना

डॉ. रमेशचन्द्र जैन,

जैन मन्दिर के पास, बिजनौर (उ.प्र.) २४६७०१...

आचार्य गुणधर

द्वादशाङ्गश्रुत के बारहवें अङ्ग के जो पाँच भेद शास्त्रों में निरूपित हैं, उनमें से चौथे भेद पूर्वगत के चौदह भेदों में से दूसरे अग्रायणीय पूर्व की १४ वस्तुओं में से पाँचवीं चयनलब्धि के २० प्राभृतों में से चौथे कर्म प्रकृति प्राभृत के २४ अनुयोग द्वारों में से भिन्न-भिन्न अनुयोग द्वार एवं उनके अवान्तर अधिकारों से षट्खण्डागम के विभिन्न अङ्गों की उत्पत्ति हुई। पाँचवें ज्ञान प्रवाद पूर्व की दसवीं वस्तु के तीसरे पेज्जदोसपांहुडं से कषायपाहुड की उत्पत्ति हुई।

गुणधराचार्य ने कषायपाहुड की रचना षट्खण्डागम से पूर्व की। गणधरग्रथित जिस पेज्जदोसपाहुड में सोलह हजार मध्यम पद थे, अर्थात् जिनके अक्षरों का परिमाण दो कोटाकोटी इकसठ लाख सत्तावन हजार दो सौ बानवे करोड़, बासठ लाख आठ हजार था, इतने महान् विस्तृत ग्रंथ का सार २३३ गाथाओं में आचार्य गुणधर (विक्रम की दूसरी शती का पूर्वार्द्ध) ने कषायपाहुड में निबद्ध किया। कषायपाहुड पन्द्रह अधिकारों में बँटा हुआ है - १. पेज्जदोसविभक्ति, २. स्थितिविभक्ति, ३. अनुभागविभक्ति, ४. प्रदेशविभक्ति, झीणाझीणस्थित्यन्तिक, ५. बंधक, ६. वेदक, ७. उपयोग, ८. चतुः स्थान, ९. व्यञ्जन, १०. दर्शनमोहोपशमना, ११. दर्शनमोहक्षपणा, १२. संयमासंयमलब्धि, १३. संयमलब्धि, १४. चारित्रमोहोपशमना, १५. चारित्रमोहक्षपणा।

२३३ गाथाओं द्वारा सूचित अर्थ की सूचना यतिवृषभ ने ६००० श्लोकप्रमाण चूर्णिसूत्रों द्वारा दी और उनका व्याख्यान उच्चारणाचार्य ने १२००० श्लोकप्रमाण उच्चारणवृत्ति के द्वारा किया। उसका आश्रय लेकर ६० हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका रची गई।

कषायपाहुड का दूसरा नाम पेज्जदोसपाहुड है। पेज्ज का अर्थ राग है। यह ग्रंथ राग और द्वेष का निरूपण करता है। क्रोधादि कषायों की राग-द्वेष परिणति और उनकी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशबंध सम्बन्धी विशेषताओं का विवेचन ही इस ग्रंथ का मूल वर्ण्य विषय है। यह ग्रंथ सूत्रशैली में निबद्ध है। गुणधर ने गहन और विस्तृत विषय को अत्यन्त संक्षेप में प्रस्तुत कर सूत्रपरम्परा का आरम्भ किया है। उन्होंने अपने ग्रंथ के निरूपण की प्रतिज्ञा करते हुए गाथाओं को सुत्तगाहा कहा है।[१]

आचार्य धरसेन- भगवान महावीर के निर्वाण से ६८३ वर्ष बीत जाने पर आचार्य धरसेन हुए। नन्दिसंघ की पट्टावली के अनुसार धरसेनाचार्य का काल वीर-निर्वाण से ६१४ वर्ष पश्चात् जान पड़ता है।

आचार्य धरसेन अष्टाङ्ग महानिमित्त के ज्ञाता थे, जिस प्रकार दीपक से दीपक जलाने की परम्परा चालू रहती है, उसी प्रकार आचार्य धरसेन तक भगवान महावीर की देशना आंशिक रूप में पूर्ववत् धारा प्रवाह रूप से चली आ रही थी। आचार्य धरसेन काठियावाड़ में स्थित गिरिनगर (गिरिनार पर्वत) की चन्द्रगुफा में रहते थे। जब वे वृद्ध हो गए और अपना जीवन अत्यल्प अवशिष्ट देखा, तब उन्हें यह चिंता हुई कि अवसर्पिणी काल के प्रभाव से श्रुतज्ञान का प्रतिदिन ह्रास होता जाता है। इस समय मुझे जो कुछ श्रुत प्राप्त है, उतना भी आज किसी को नहीं है। यदि मैं अपना श्रुत दूसरे को नहीं दे सका, तो यह भी मेरे ही साथ समाप्त हो जाएगा। उस समय देशेन्द्र नामक देश में वेणाकतटीपुर में महामहिमा के अवसर पर विशाल मुनि समुदाय विराजमान था। श्री धरसेनाचार्य ने एक ब्रह्मचारी के हाथ वहाँ मुनियों के पास एक पत्र भेजा। उसमें लिखा था -

"स्वस्ति श्रीमत् इत्यू जयन्ततटनिकटचन्द्रगुहावासाद् धरसेनगणी वेणाकतटसमुदितयतीन् अभिवन्द्य कार्यमेवं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

निगदत्यस्माकमायुरवशिष्टम्। स्वल्प तस्मादस्मच्छ्रुतस्य शास्त्रस्य व्युच्छित्तिः ।। न स्यात्तथा तथा द्वौ यतीश्वरौ ग्रहणधारणसमर्थौ निशितप्रज्ञौ यूयं प्रस्थापयत .... ।।"

'स्वस्ति श्रीमान् ऊर्जयन्त तट के निकट स्थित चन्द्र गुहावास से धरसेनाचार्य वेणाक तट पर स्थित मुनिसमूहों की वन्दना करके इस प्रकार से कार्य को कहते हैं कि हमारी आयु अब अल्प ही अवशिष्ट रही है। इसलिए हमारे श्रुतज्ञानरूप शास्त्र का व्युच्छेद जिस प्रकार न हो, उसी तरह से आप लोग तीक्ष्ण बुद्धि वाले श्रुत को ग्रहण और धारण करने में समर्थ दो यतीश्वरों को मेरे पास भेजो।'

मुनिसंघ ने आचार्य धरसेन के श्रुतरक्षा सम्बन्धी अभिप्राय को जानकार दो मुनियों को गिरिनगर भेजा। वे मुनिविद्या ग्रहण करने में तथा उसका स्मरण रखने में समर्थ थे। अत्यन्त विनयी तथा शीलवान् थे। उनके देश, कुल और जाति शुद्ध थे और वे समस्त कलाओं में पारङ्गत थे। जब वे दो मुनि गिरिनगर की ओर जा रहे थे, तब यहाँ श्री धरसेनाचार्य ने ऐसा शुभ स्वप्न देखा कि दो श्वेत वृषभ आकर उन्हें विनयपूर्वक वन्दना कर रहे हैं। उस स्वप्न से उन्होंने जान लिया कि आने वाले दोनों मुनि विनयवान एवं धर्मधुरा को वहन करने में समर्थ हैं। उनके मुख से 'जयउ सुयदेवदां' ऐसे आशीर्वादात्मक वचन निकले। दूसरे दिन दोनों मुनिवर आ पहुँचे और विनयपूर्वक उन्होंने आचार्य के चरणों में वन्दना की। दो दिन पश्चात् श्री धरसेनाचार्य ने उनकी परीक्षा की। एक को अधिक अक्षरों वाला और दूसरे को हीन अक्षरों वाला विद्यामंत्र देकर दो उपवास सहित उसे साधने को कहा। ये दोनों गुरु द्वारा दी गई विद्या को लेकर और उनकी आज्ञा से नेमिनाथ तीर्थंकर की सिद्धभूमि जाकर नियमपूर्वक अपनी-अपनी विद्या की साधना करने लगे। जब उनकी विद्या सिद्ध हो गई, तब वहाँ पर उनके सामने दो देवियाँ आईं। उनमें से एक देवी के एक आँख थीं और दूसरी देवी के दाँत बड़े-बड़े थे।

मुनियों ने जब सामने देवियों को देखा, तो जान लिया कि मंत्रों में कोई त्रुटि है, क्योंकि देव विकृताङ्ग नहीं होते हैं। तब व्याकरण की दृष्टि से उन्होंने मंत्र पर विचार किया, जिसके सामने एक आँख वाली देवी आई थी, उन्होंने अपने मन्त्र में एक वर्ण कम पाया तथा जिसके सामने लम्बे दाँतों वाली देवी आई थी, उन्होंने अपने मंत्र में एक वर्ण अधिक पाया। दोनों ने अपने-अपने मंत्रों को शुद्ध कर पुनः अनुष्ठान किया, जिसके फलस्वरूप देवियाँ अपने यथार्थ स्वरूप में प्रकट हुईं और बोलीं कि हे नाथ ! आज्ञा कीजिए। हम आपका क्या कार्य करें।

दोनों मुनियों ने कहा - देवियो ! हमारा कुछ भी कार्य नहीं है। हमने तो केवल गुरुदेव की आज्ञा से ही विद्या मंत्र की आराधना की है। यह सुनकर वे देवियाँ अपने स्थान को चली गईं।

मुनियों की इस कुशलता से गुरु ने जान लिया कि सिद्धांत का अध्ययन करने के लिए वे योग्य पात्र हैं। आचार्यश्री ने उन्हें सिद्धांत का अध्ययन कराया। वह अध्ययन आषाढ़ शुक्ला एकादशी के दिन पूर्ण हुआ। उस दिन देवों ने दोनों मुनियों की पूजा की। एक मुनिराज के दाँतों की विषमता दूर कर देवों ने उनके दाँत कुन्दपुष्प के समान सुन्दर करके उनका पुष्पदंत यह नामकरण किया तथा दूसरे मुनिराज की भी भूत जाति के देवों ने तूर्यनाद, जयघोष, गंधमाला, धूप आदि से पूजा कर 'भूतबलि' नाम से घोषित किया।

अनन्तर श्री धरसेनाचार्य ने विचार किया कि मेरी मृत्यु का समय निकट है। इन दोनों को संक्लेश न हो, यह सोचकर वचनों द्वारा योग्य उपदेश देकर दूसरे दिन ही वहाँ से कुरीश्वर देश की ओर विहार करा दिया। यद्यपि वे दोनों गुरु के चरण - सान्निध्य में कुछ समय रहना चाहते थे, तथापि गुरु के वचन अनुल्लङ्घनीय हैं, ऐसा विचार कर वे उसी दिन वहाँ से चल दिए और अंकलेश्वर (गुजरात) में आकर उन्होंने वर्षाकाल बिताया। वर्षाकाल व्यतीत कर पुष्पदन्त आचार्य तो अपने भानजे जिनपालित के साथ वनवास देश को चले गए और भूतबलि भट्टाख द्रविड़ देश को चले गए।[२]

पुष्पदन्त और भूतबलि- डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने पुष्पदन्त का समय ई. सन् ५०-८० माना है तथा भूतबलि का समय ई. सन् ६६-९० माना है।[३] उपर्युक्त विवरण के अनुसार ये दोनों धरसेनाचार्य के शिष्य थे। पुष्पदन्त मुनिराज अपने भानजेको पढ़ाने के लिए महाकर्म प्रकृति प्राभृत का छह खण्डों में उपसंहार करना चाहते थे, अतः उन्होंने बीस अधिकार गर्भित सत्प्ररूपणा सूत्रों को बनाकर शिष्यों को पढ़ाया और भूतबलि मुनि का अभिप्राय जानने के लिए जिनपालित को यह ग्रंथ देकर उनके पास भेज दिया। इस रचना को और पुष्पदन्त मुनि के षट्खण्डागम रचना के अभिप्राय को जानकर एवं उनकी आयु भी अल्प है,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऐसा समझकर भी भूतबलि आचार्य ने द्रव्यप्ररूपणा आदि अधिकारों को बताया। इस तरह पूर्व के सूत्रों सहित छह हजार श्लोक प्रमाण में उन्होंने पाँच खण्ड बनाए और तीस हजार प्रमाण सूत्रों में महाबंध नाम का छठा खण्ड बनाया।

छह खण्डों के नाम इस प्रकार हैं - जीव स्थान, क्षुद्रक बंध, बन्धस्वामित्व, वेदनाखण्ड, वर्गणाखण्ड और महाबन्ध। भूतबलि आचार्य ने इस षट्खण्डागम सूत्रों को पुस्तकबद्ध किया और ज्येष्ठ सुदी पंचमी के दिन चतुर्विधसंघ सहित कृतिकर्मपूर्वक महापूजा की। इसी दिन से इस पंचमी का 'श्रुतपंचमी' नाम प्रसिद्ध हो गया और तब से लेकर लोग श्रुतपंचमी के दिन श्रुत की पूजा करते हैं। पुनः भूतबलि ने जिनपालित को[४] षट्खण्डागम ग्रंथ देकर पुष्पदन्त मुनि के पास भेजा। उन्होंने अपने चिंतित कार्य को पूरा हुआ देकर महान् हर्ष व्यक्त किया और श्रुत के अनुराग से चातुर्वर्ण संघ के मध्य महापूजा की।

षट्खण्डागम यथानाम छह खण्डों की रचना है। इन छह खण्डों का विशेष परिचय इस प्रकार है -

१. जीव स्थान

इस खण्ड में गुणस्थान और मार्गणास्थान का आश्रय लेकर सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन आठ अनुयोग-द्वारों से तथा प्रकृतिसमुत्कीर्तना, स्थान समुत्कीर्तना, तीन महादण्डक, जघन्य स्थिति, उत्कृष्ट स्थिति, सम्यक्त्वोत्पत्ति और गति-अगति इन नौ चूलिकाओं के द्वारा जीव की विविध अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। राग-द्वेष और मिथ्यात्व भाव को मोह कहते हैं। मन-वचन, काय के निमित्त से आत्मप्रदेशों के चंचल होने को योग कहते हैं। इन्हीं मोह और योग के दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप, आत्म गुणों की विकास रूप अवस्थाओं को गुण-स्थान कहते हैं।

२. खुद्दाबन्ध

इसमें कर्मबन्धक के रूप में जीव की प्ररूपणा इन ग्यारह अनुयोग-द्वारों द्वारा की गई है - १. एक जीव की अपेक्षा स्वामित्व, २. एक जीव की अपेक्षा काल, ३. एक जीव की अपेक्षा अन्तर, ४. नाना जीवों की अपेक्षा भंगविचय, ५. द्रव्य प्रमाणानुगम, ६. क्षेत्रानुगम, ७. स्पर्शानुगम, ८. नाना जीवों की अपेक्षा काल, ९. नाना जीवों की अपेक्षा अन्तर, १०. भागाभागानुगम और ११. अल्पबहुत्वानुगम। इन अनुयोग-द्वारों के प्रारम्भ में भूमिका के रूप में बंध के सत्त्व की प्ररूपणा की गई है और अंत में सभी अनुयोग-द्वारों को चूलिका रूप से अल्पबहुत्व महादण्डक दिया गया है।

३. बन्धस्वामित्वविचय

इस खण्ड में कर्मों की विभिन्न प्रकृतियों का बंध करने वाले स्वामियोंका विचय अर्थात् विचार किया गया है।

४. वेदनाखण्ड

इसमें छह अनुयोग-द्वारों में वेदना नामक दूसरे अनुयोग का विस्तार से वर्णन किया गया है।

५. वर्गणाखण्ड

महाकर्मप्रकृति प्राभृत के २४ अनुयोग द्वारों में स्पर्श, कर्म और प्रकृति ये तीन अनुयोग द्वार स्वतंत्र हैं और भूतबलि आचार्य ने इनका स्वतंत्र रूप से ही वर्णन किया है, तथापि छठे बंधन अनुयोग द्वार के अन्तर्गत बंधनीय का अवलम्बन लेकर पुद्गल वर्गणाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है और आगे के अनुयोग द्वारों का वर्णन आचार्य भूतबलि ने नहीं किया है, इसलिए स्पर्श अनुयोग द्वार से लेकर बंधन अनुयोग द्वार तक का वर्णित अंश वर्गणाखण्ड के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

६. महाबंध

षट्खण्डागम के दूसरे खण्ड में कर्मबंध का संक्षेप में वर्णन किया गया है। अतः उसका नाम खुद्दाबंध या क्षुद्रबंध प्रसिद्ध हुआ, किन्तु छठे खण्ड में बंध की प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप चारों प्रकार के बंधों का अनेक अनुयोग द्वारों से विस्तारपूर्वक विवेचन किया है, इसलिए इसका नाम महाबंध रखा गया।

आचार्य आर्यमंक्षु और नागहस्ति

ये दोनों आचार्य दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में प्रतिष्ठित हैं। धवला टीका में इन दोनों को महाश्रमण और महावाचक लिखा गया है। जयधवला में आर्यमंक्षु और नागहस्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का उल्लेख करते हुए इन दोनों को आचार्य-परम्परा का अभिज्ञ माना गया है। वहाँ कहा गया है कि विपुलाचल के ऊपर स्थित भगवान् महावीर रूपी दिवाकर से निकलकर गौतम, लोहार्य, जम्बू स्वामी आदि आचार्य परम्परा से आकर गुणधराचार्य को प्राप्त होकर वहाँ गाथा रूप से परिणमन करके पुनः आर्यभंक्षु और नागहस्ति आचार्य के द्वारा आर्य यतिवृषभ को प्राप्त होकर चूर्णिसूत्ररूप से परिणत हुई दिव्यध्वनि किरण रूप से अज्ञान अंधकार को नष्ट करती है।[४]

इससे स्पष्ट है कि ये दोनों आचार्य अपने समय के कर्मसिद्धांत के महान् वेत्ता और आगम के पारगामी थे। आचार्य वीरसेन ने लिखा है -

> गुणहरवयणविणिग्गिय - गाहाणत्थोऽवहारियो सव्वो।
> जेणज्जमंखुणा सो सणागहत्थी वरं देऊ ॥7॥
> जो अज्जयमुंखुसीसो अंतेवासी विणादगहत्थिस्स।
> सो वित्तिसुत्तकत्ता जइवसहो में वरं देऊ ॥8॥

अर्थात् जिन आर्यभंक्षु और नागहस्ति ने गुणधराचार्य के मुखकमल से विनिर्गत कसायपाहुड की गाथाओं के समस्त अर्थ को सम्यक् प्रकार ग्रहण किया, वे हमें वर प्रदान करें।

डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने नागहस्ति की तिथि ई. सन् १३०-१३२ निर्धारित की है और आर्यभंक्षु को नागहस्ति से पूर्ववर्ती मानकर उनका समय ई. सन् ५० माना है।[५]

षट्खण्डागम के टीकाकार

विक्रम की ९वीं शताब्दी और शक संवत् की ८वीं शताब्दी में आचार्य वीरसेन जैनदर्शन के दिग्गज विद्वान् आचार्य थे। षट्खण्डागम ग्रंथ की रचना के आठ सौ वर्ष बाद आप ही एक ऐसे अद्वितीय आचार्य हुए हैं कि षट्खण्डागम पर धवला नामक टीका लिखकर एक अद्वितीय कार्य किया। यह टीका बहत्तर हजार श्लोकप्रमाण है तथा सैकड़ों वर्षों से मूडबिद्री में ताड़ पत्रों पर लिखी हुई सुरक्षित है। कषाय प्राभृत के रचयिता गुणधर स्वामी हैं। यतिवृषभ स्वामी ने चूर्णिसूत्रों द्वारा उसे स्पष्ट किया है। आचार्य वीरसेन के गुरु का नाम एलाचार्य था।

उनके पास ही उन्होंने सिद्धांतग्रंथों का अध्ययन किया था। कसायपाहुड की जयधवला टीका लिखने के पश्चात् वे स्वर्गस्थ हो गए, तब उनके अनन्यतम शिष्य जिनसेन ने ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखकर एक अनुपम उदाहरण जगत् के समक्ष रखा। अपने गुरु वीरसेनाचार्य की महिमा बतलाते हुए जिनसेन स्वामी ने कहा है कि षट्खण्डागम में उनकी वाणी अस्खलित रूप से प्रवर्तित होती थी। उनकी सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञा को देखकर किसी भी बुद्धिमान् को सर्वज्ञ की सत्ता में शंका नहीं रही थी। वीरसेन स्वामी की धवला टीका ने षट्खण्डागम सूत्रों को चमका दिया। जिनसेन ने उन्हें कवियों का चक्रवर्ती तथा अपने आपके द्वारा परलोक का विजेता कहा है।

नन्दिसंघ की पट्टावली के अनुसार भगवान् महावीर की २९वीं पीढ़ी में अर्हदबलि मुनिराज हुए। तीसवीं पीढ़ी में माघनन्दी मुनिराज हुए। माघनन्दी स्वामी के दो शिष्य थे - १. जिनसेन, २. धरसेन। जिनसेन स्वामी के शिष्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य और धरसेन स्वामी के शिष्य श्री पुष्पदन्त और भूतबलि थे। इस हिसाब से धरसेन स्वामी तीर्थंकर वर्द्धमान की ३१वीं पीढ़ी में हुए और कुन्दकुन्द स्वामी तथा पुष्पदन्त भूतबलि आचार्य ३२वीं पीढ़ी में हुए, इसलिए धरसेन स्वामी आचार्य कुन्दकुन्द के काका-गुरु होते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द तथा पुष्पदन्त एवं भूतबलि आचार्य गुरुभाई होते हैं। षट्खण्डागम सूत्र पर जो अनेक टीकाएँ रची गई हैं, उनमें सबसे पहली टीका परिकर्म है। परिकर्म की रचना कौण्डकौण्डपुर में श्री पद्मनन्दि मुनि (आचार्य कुन्दकुन्द) ने की थी।

षट्खण्डागम के छह खण्डों में से प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नामक बारह हजार श्लोकप्रमाण टीका ग्रंथ की रचना उन्होंने की। धवल-जयधवल टीका में वीरसेन स्वामी ने अपने कथन की पुष्टि के लिए कितने ही स्थानों पर परिकर्म के कथन का उल्लेख किया है। षट्खण्डागम में छह खण्ड हैं। उनमें छठे खण्ड का नाम महाबंध है, इसकी टीका खूब विस्तृत है और वही महाधवल के रूप में प्रसिद्ध है। इस महाबंध की भी ताड़ पत्र पर लिखी हुई प्रति मूडबिद्री के शास्त्रभण्डार में सुरक्षित है।

षट्खण्डागम और कषाय-प्राभृत दोनों सिद्धांत-ग्रंथों पर अनेके टीकाएँ रची गई हैं, जिनमें षट्खण्डागम की धवला टीका कषायप्राभृत के चूर्णिसूत्र एवं जयधवला टीका तथा महाबंध पर महाधवला नामक टीका उपलब्ध है। अन्य टीकाएँ उपलब्ध नहीं हैं। इन टीकाओं का विवरण निम्नलिखित है -

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टीका का नाम	आचार्य	श्लोक प्रमाण	शताब्दी
परिकर्म	आचार्य कुन्दकुन्द	१२०००	द्वितीय शताब्दी
पद्धति	आचार्य शामकुण्ड	१२०००	तृतीय शताब्दी
चूडामणि	आचार्य तुम्बुलूर	९१०००	चौथी शताब्दी
चूडार्माण	समन्तभद्राचार्य	४८००५	पंचम शताब्दी
व्याख्याप्रज्ञप्ति	वप्पदेवगुरु	८०००	षष्ठ शताब्दी
धवला	आचार्य वीरसेन	७२०००	आठवीं शताब्दी
महाधवला	आचार्य जिनसेन	x x x	नवम् शताब्दी

आचार्य यतिवृषभ

जयधवलाकार के उल्लेखानुसार आचार्य यतिवृषभ ने आर्यभंक्षु और नागहस्ति के पास कषायपाहुड की गाथाओं का सम्यक् प्रकार अर्थ अवधारण करके सर्वप्रथम उन चूर्णिसूत्रों की रचना की। श्वेताम्बर-ग्रंथों में एक स्थान पर चूर्णिपद का लक्षण इस प्रकार दिया गया है -

अत्थबहुलं महत्थं हेउ निवाओवसग्गगंभीरं।
बहुपायमवोच्छिन्नं गम नय सुद्धं तु चुण्णपयं ॥

अर्थात् जो अर्थ-बहुल हो, महान् अर्थ का धारक या प्रतिपादक हो, हेतु, निपात और उपसर्ग से युक्त हो, गम्भीर हो, अनेक पाद समन्वित हो, अव्यवच्छिन्न हो अर्थात् जिसमें वस्तु का स्वरूप धारा प्रवाह से कहा गया हो तथा जो अनेक प्रकार के जानने के उपाय और नयों से शुद्ध हो, उसे चूर्णि सम्बन्धी पद कहते हैं।

चूर्णिसूत्रों की रचना संक्षिप्त होते हुए भी बहुत स्पष्ट, प्राञ्जल और प्रौढ़ है, कहीं एक शब्द का भी निरर्थक प्रयोग नहीं हुआ है। कहीं-कहीं संख्यावाचक पद के स्थान पर गणनाङ्कों का भी प्रयोग किया गया है, तो जयधवलाकार ने उसकी भी महत्ता और सार्थकता प्रकट की है। चूर्णिसूत्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि चूर्णिकार के सामने जो आगम सूत्र उपस्थित थे और उनमें जिन विषयों का वर्णन उपलब्ध था, उन विषयों को प्रायः यतिवृषभ ने छोड़ दिया है, किन्तु जिन विषयों का वर्णन उनके सामने उपस्थित आगमिक साहित्य में नहीं था और उन्हें जिनका विशेष ज्ञान गुरुपरम्परा से प्राप्त हुआ था, उनका उन्होंने प्रस्तुत चूर्णि में विस्तार से वर्णन किया है।

इसके साक्षी बंध और संक्रम आदि अधिकार हैं। यतः महाबंध में चारों प्रकारों के बंधों का अतिविस्तृत विवेचन उपलब्ध था, अतः उसे एक सूत्र में ही कह दिया कि यह चारों प्रकार का बंध बहुशः प्ररूपित है, किन्तु संक्रमण सत्त्व उदय और उदीरणा का विस्तृत विवेचन उनके समय तक किसी ग्रंथ में निबद्ध नहीं हुआ था, अतएव उनका प्रस्तुत चूर्णि में बहुत विशद एवं विस्तृत वर्णन किया है। इसी से यह ज्ञात होता है कि यतिवृषभ का आगमिक ज्ञान कितना अगाध, गम्भीर और विशाल था।

यतिवृषभ को आर्यभंक्षु और नागहस्ति जैसे अपने समय के महान् आगम वेत्ता और कषायपाहुड के व्याख्याता आचार्यों से प्रकृत विषय का विशिष्ट उपदेश प्राप्त था, तथापि उनके सामने और भी कर्मविषयक आगमसाहित्य अवश्य रहा है, जिसके आधार पर वे अपनी प्रौढ़ और विस्तृत चूर्णि को सम्पन्न कर सके हैं और कषायपाहुड की गाथाओं में एक-एक पद के आधार पर एक-एक स्वतंत्र अधिकार की रचना करने में समर्थ हो सके हैं।

आचार्य यतिवृषभ की दूसरी कृति के रूप से तिलोयपण्णत्ती प्रसिद्ध है और वह सानुवाद मुद्रित होकर प्रकाशित है। कम्मपयडी की गाथाओं को कषायपाहुड चूर्णि का आधार बनाया गया है। इस आधार पर कम्मपयडी भी यतिवृषभ कृत मानी जाती है। इसी प्रकार सतक और सित्तरी के रचयिता यतिवृषभ कहे गए हैं।

यतिवृषभ आचार्य पूज्यपाद से पूर्व हुए हैं। इसका कारण यह है कि उन्होंने अपनी सर्वार्थसिद्धि में उनके एक मत विशेष का उल्लेख किया है।

'अथवा येषां मते सासादन एकेन्द्रियेषु नोत्पद्यते तन्मतापेक्षया द्वादश भागा न दत्ता।'

अर्थात् जिन आचार्यों के मन से सासादन गुणस्थानवर्ती जीव एकेन्द्रियों में उत्पन्न नहीं होता है, उनके मत की अपेक्षा १२/१४ भाग स्पर्शन क्षेत्र नहीं कहा गया है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सासादन गुणस्थान वाला मरे, तो नियम से देवों में उत्पन्न होता है। यह आचार्य यतिवृषभ का मत है। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि आचार्य यतिवृषभ आचार्य पूज्यपाद से पहले हुए हैं। चूँकि पूज्यपाद के शिष्य वज्रनन्दि ने वि.सं. ५२६ में द्रविड़ संघ की स्थापना की है और यतिवृषभ के मत का पूज्यपाद ने उल्लेख किया है, अतः उनका वि.सं. ५२६ के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पूर्व होना निश्चित है। इससे यह स्पष्ट फलित होता है कि यति-वृषभ का समय विक्रम की छठी शताब्दी का प्रथम चरण है।[६]

उच्चारणाचार्य

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् उनका उपदेश श्रुतकेवलियों के समय तक तो मौखिक ही चलता रहा, किन्तु उनके पश्चात् विविध अङ्गों और पूर्वों के विषयों का कुछ विशिष्ट आचार्यों ने उपसंहार करके गाथासूत्रों में निबद्ध किया। गाथा शब्द का अर्थ है - गाये जाने वाले गीत। सूत्र का अर्थ है - महान् और विशाल अर्थ के प्रतिपादक शब्दों की संक्षिप्त रचना, जिसमें संकेतित बीज पदों के द्वारा विवक्षित विषय का पूर्ण समावेश रहता है। इस प्रकार के गाथासूत्रों की रचना करके उनके रचयिता आचार्य अपने सुयोग्य शिष्यों को गाथा सूत्रों के द्वारा सूचित अर्थ के उच्चारण करने की विधि और व्याख्यान करने का प्रकार बतला देते थे और वे लोग जिज्ञासुजनों के लिए गुरु-प्रतिपादित विधि से उन गाथा सूत्रों का उच्चारण और व्याख्यान किया करते थे। इस प्रकार गाथा सूत्रों के उच्चारण या व्याख्यान करने वाले आचार्यों को उच्चारणाचार्य, व्याख्यानाचार्य या वाचक कहा जाता था।

जयधवलाकार ने उच्चारण, मूल उच्चारणा, लिखित उच्चारणा, वप्पदेवाचार्य-लिखित उच्चारणा और स्वलिखित उच्चारणा का उल्लेख किया है। इन विविध संज्ञाओं वाली उच्चारणाओं के नामों पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि चूर्णिसूत्रों पर सबसे प्रथम जो उच्चारणा की गई, वह मूल उच्चारणा कहलाई। गुरु-शिष्य परम्परा कुछ दिनों तक उस मूल उच्चारणा के उच्चरित होने के अनन्तर जब समष्टि रूप से लिखी गई, तो उसी का नाम लिखित उच्चारणा हो गया।

इस प्रकार उच्चारणा के लिखित हो जाने पर भी उच्चारणाकार्यों की परम्परा तो चालू ही थी, अतएव मौखिक रूप से भी वह प्रवाहित होती हुई प्रवर्तमान रही। तदनन्तर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों ने अपने विशिष्ट गुरुओं से विशिष्ट उपदेश के साथ उस उच्चारणा को पाकर व्यक्तिगत रूप से भी लिपिबद्ध किया और वह वप्पदेवाचार्य लिखित उच्चारणा, वीरसेन लिखित उच्चारणा आदि नामों से प्रसिद्ध हुई।[७]

आचार्य कुन्दकुन्द- आचार्य कुन्दकुन्द विक्रम की प्रथम शताब्दी के आचार्यरत्न माने जाते हैं। जैन-परम्परा में भगवान् महावीर और गौतम गणधर के बाद कुन्दकुन्द का नाम लेना मङ्गलकारक माना जाता है।

मङ्गलं भगवान्वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तुमङ्गलम् ।।

दिगम्बर जैन साधुगण स्वयं को कुन्दकुन्दाचार्य की परम्परा का कहलाने में गौरव मानते हैं। भगवान् कुन्दकुन्द के शास्त्र साक्षात् गणधरदेव के वचनों जैसे ही प्रमाणभूत माने जाते हैं। उनके अनन्तर हुए ग्रंथकार आचार्य स्वयं के किसी कथन को सिद्ध करने के लिए कुन्दकुन्द आचार्य के शास्त्रों का प्रमाण देते हैं, जिससे उनका कथन निर्विवाद सिद्ध होता है। विक्रम सम्वत् ९९० में हुए देवसेनाचार्य अपने दर्शनसार नामक ग्रंथ में कहते हैं-

जद् पउमणंदिणाहो सीमंधर समिदिव्वणाणेण ।
ण विवोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ।।

"विदेह क्षेत्र के वर्तमान तीर्थंकर श्री सीमन्धर स्वामी से प्राप्त किए हुए दिव्य ज्ञान के द्वारा श्री पद्मनन्दिनाथ (आचार्य कुन्दकुन्द) ने बोध नहीं दिया होता तो मुनिजन सच्चे मार्ग को कैसे जानते ?"

वन्द्यो विभुर्भुविन कैरिह कौण्डकुन्दः। कुन्दप्रभा प्रणयि कीर्तिविभूषिताशः। यश्चारु-चारण-कराम्बुजचञ्चरीकश्चक्रे श्रुतस्य भरते प्रयतः प्रतिष्ठाम् ।।

(चन्द्रगिरि का शिलालेख)

कुन्द पुष्प की प्रभा को धारण करने वाली जिनकी कीर्ति के द्वारा दिशायें विभूषित हुई हैं, जो चारण ऋद्धिधारी महामुनियों के हस्तकमलों के भ्रमर थे और जिस पवित्रात्मा ने भरत क्षेत्र में श्रुत की प्रतिष्ठा की है, वे विभु कुन्दकुन्द इस पृथ्वी पर किसके द्वारा वन्द्य नहीं हैं ?

....., कोण्डकुन्दो यतीन्द्रः ।।

रजोभिरस्पृष्टतमत्वमन्तर्बाह्ये ऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः।
रजः पदं भूमितलं विहाय चचार मत्ये चतुरंगुलं सः ।।
(विन्ध्यगिरि शिलालेख)

यतीश्वर (श्री कुन्दुकुन्द स्वामी) रजः स्थान को-भूमितल को छोड़कर चार अंगुल ऊपर आकाश में चलते थे, उससे मैं

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यह समझता हूँ कि वे अंतरङ्ग तथा बहिरङ्ग रज से (अपना) अत्यंत अस्पृष्टत्व व्यक्त करते थे (वे अंतरङ्ग में रागादि मल से और बाह्य में धूलि से अस्पष्ट थे)।

आचार्य कुन्दकुन्द के द्वारा निर्मित ग्रंथ निम्नलिखित हैं -

१.नियमसार, २. पंचास्तिकाय ३. प्रवचनसार ४. समयसार ५. बारस अणुवेक्खा ६. दंसणपाहुड ७. चरित्तपाहुड ८. सुत्तपाहुड ९. बोधपाहुड १०. भावपाहुड ११. मोक्खपाहुड १२. सीलपाहुड १३. लिंगपाहुड १४ दसभत्ति संगहो। कहा जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने चौरासी पाहुडों की रचना की थी।

बारस अणुवेक्खा के अंत में कुन्दकुन्द ने अपने नाम का निर्देश किया है। बोधप्राभृत के अंत में हम पाते हैं कि इसकी रचना भद्रबाहु के शिष्य ने की। कुछ लोगों ने कुन्दकुन्द को भद्रबाहु का साक्षात् शिष्य न मानकर परम्पराशिष्य माना है। आचार्य कुन्दकुन्द की तीन कृतियाँ पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और समयसार सम्भवतः वेदान्त के प्रस्थानत्रय के साम्य पर नाटकत्रय अथवा प्राभृतत्रय कहलाती हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि जैनों के लिए ये कृतियाँ उतनी ही पवित्र और आधिकारिक हैं, जितनी वेदान्तियों के लिए उपनिषद् ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता। उनके अधिकांश कथन साम्प्रदायिकता से परे हैं। उनके समयसार का अध्ययन दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासियों ने समानरूप से किया है तथा हजारों आध्यात्मिक व्रती पुरुषों तथा साधुओं ने कुन्दकुन्द से धार्मिक अभिप्रेरणा और आत्मिक सांत्वना प्राप्त की है।

कुन्दकुन्द के प्राभृत ग्रन्थ आध्यात्मिक उद्देश्य से निर्मित या सम्पादित किए गए थे। ये परमात्मा को भक्तिपूर्ण भेंट हैं। जयसेन ने प्राभृत की व्याख्या करते हुए कहा है कि जैसे कोई देवदत्त नामक पुरुष राजा के दर्शन के लिए कोई सारभूत वस्तु राजा को देता है, वह सारभूत वस्तु प्राभृत कहलाती है। इसी प्रकार परमात्माराधक पुरुष के निर्दोष परमात्मराज के दर्शन के लिए यह शास्त्र भी प्राभृत है।

दसभक्तियाँ सशक्त माताग्रह तथा धार्मिक भूमिका के साथ भक्तिपूर्ण प्रार्थनाएँ हैं। तित्थयरभक्ति दिगंबर तथा श्वेताम्बर दोनों परंपराओं को मान्य है। दोनों परंपराओं ने इसे विरासत के रूप में पाया होगा। अवशिष्ट भक्तियों की रचना भी पारम्परिक ज्ञान के आधार पर हुई होगी। कुन्दकुन्द के अष्टपाहुडों में से कुछ में विषयवस्तु की व्याख्या बड़ी सुव्यवस्थित है, जैसे चरित्त-पाहुड तथा बोधपाहुड। सुत्तपाहुड तथा भावपाहुड में विषयवस्तु केवल सम्पादित प्रतीत होती है। भावपाहुड की विषय वस्तु अपेक्षाकृत विविध है। उसमें जो पौराणिक संदर्भ पाए जाते हैं, वे यह निर्देश करते हैं कि बहुत से जैन पौराणिक संदर्भों की उपस्थिति ईसा के प्रारंभ में प्रवाहित थी। इन पाहुडों का पश्चात्कालीन लेखकों पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। पूज्यपाद ने अपने समाधिशतक की रचना अधिक व्यवस्थित रूप से सुदृढ़ वस्तुवैज्ञानिक अभिव्यक्तिशैली में की जो प्रमुखतः मोक्षपाहुड पर आधारित है। अमृतचंद्राचार्य के बहुत से पद्य इन पाहुडों की गाथाओं की याद दिलाते हैं, जिन्हें वे उद्धृत भी करते हैं। गुणभद्र ने अपने आत्मानुशासन में भावपाहुड आदि की गाथाओं का घनिष्ठता से अनुसरण किया है। बारस अणुवेक्खा में बारह भावनाओं का विवेचन है। कर्मों के आस्रव को रोकने के लिए ये आवश्यक हैं। नियमसार में १८७ गाथाएँ हैं। इस रचना के लेखक का उद्देश्य त्रिरत्न पर मूलतः विचार करना है, जो कि नियम रूप मोक्ष का मार्ग निर्मित करते हैं।

पंचास्तिकाय में समय को पांच अस्तिकाओं के रूप में परिभाषित किया गया है। पाँच अस्तिकायों में काल को मिलाकर छह द्रव्य हैं। समयसार की रचना का उद्देश्य नैश्चयिक दृष्टि से शुद्ध आत्मा का अनुभव कराना है। प्रत्येक मुमुक्षु को समस्त आसक्तियों से ऊपर उठकर पूर्ण शुद्ध आत्मा का अनुभव करना चाहिए। प्रवचनसार एक शैक्षणिक धर्मग्रंथ तथा नवदीक्षित के लिए व्यावहारिक नियमपुस्तिका है। पूरी कृति प्रौढ़ मस्तिष्क की स्वामित्वपूर्ण पकड़ है। इसमें ज्ञान, द्रव्य, गुण, पर्याय, जीव, पुद्गल, सर्वज्ञ तथा स्याद्वाद आदि विषयों का अच्छा विवेचन है।

उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त रमणसार, तिरुक्कुरल, मूलाचार आदि कृतियाँ भी आचार्य कुन्दकुन्दकृत मानी जाती है। कहा जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने षट्खण्डागम पर परिकर्म नामक टीका लिखी थी। आचार्य कुन्दकुन्द की सर्वाधिक प्रसिद्ध कृति समयसार है। समयसार में लेखक का उद्देश्य पाठकों पर यह प्रभाव डालना है कि कर्म से सम्बद्धता के अज्ञान के फलस्वरूप अनेक आत्माओं के आत्म-साक्षात्कार में बाधा पड़ी हुई है। अतः प्रत्येक मुमुक्षु को समस्त आसक्तियों से ऊपर उठकर पूर्ण शुद्ध आत्मा का अनुभव करना चाहिए। अज्ञानी आत्मा की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वि भत्र दूसरी वस्तुओं से एकता स्थापित करते हैं। उन्हें इस बात की परवाह नहीं है कि ये सारी वस्तुएँ पुद्‌गल के रूप हैं, जिनसे यथार्थ में आत्मा का स्वरूप अलग है। जीव में पुद्‌गल के गुण नहीं हैं। इनका गुणस्थान और मार्गणास्थान से कोई प्रयोजन नहीं है। ये सब कर्मजन्य अवस्था में हैं। संसारावस्था में ये जीव की व्यवहार से कही जाती हैं। यदि इन सारी पौद्‌गलिक अवस्थाओं का जीव के साथ एकत्व हो तो जीव और पुद्‌गल के मध्य कोई भेदक रेखा ही न हो। जीव के भेद और संयोग नामकर्म की निष्पत्तियाँ हैं। व्यक्ति को जीव और कर्मास्रव के भेद का अनुभव होना चाहिए तथा उसे क्रोधादि अवस्थाओं को छोड़ देना चाहिए। क्योंकि इन अवस्थाओं के रहते हुए जीव कर्मों से बँधा है। जब अशुद्धता का खतरा जान लिया जाता है, तब आत्मा आस्रव के कारणों से अलग हो जाता है।

आचार्य वट्टेकर-आचार्य वट्टकेरकृत मूलाचार दिगंबर परंपरा में आधाराङ्ग के रूप में माना जाता है। आचार्य वीरसेन (८-९ वीं शती) ने षट्खण्डागम की धवला टीका (८१६ ई.) में मूलाचार को आचाराङ्ग के नाम से उल्लिखित करते हुए मूलाचार के पंचम अधिकार की गाथा संख्या २०२ इस प्रकार उद्‌धृत की है--

पंचत्थिकाय छज्जीवणिकाये कालदव्वमण्णे य ।
आणागेज्झे भावे आणाविचयेण विचिणादि ॥

आचार्य वसुनन्दि ने मूलाचार के मङ्गलाचरण की वृत्ति में तथा आचार्य सकलकीर्ति ने अपने मूलाचार ग्रंथ के प्रारंभ में यह उल्लेख किया है कि आचाराङ्ग ग्रंथ का उद्धार कर प्रस्तुत मूलाचार ग्रंथ की रचना की गई है [८]।

कुछ लोग मूलाचार को आचार्य कुन्दकुन्द-कृत मानते हैं, क्योंकि मूलाचार-सद्‌वृत्ति नामक कर्नाटक टीका में मेघचन्द्राचार्य तथा मुनिजनचिन्तामणि नामक एक कर्नाटक टीका में इसे आचार्य कुन्दकुन्द की रचना होने का उल्लेख किया गया है [९]। मूडबि ी स्थित पं. लोकनाथ शास्त्री सरस्वती भंडार (जैनमठ) की मूलाचार की ताड़पत्रीय प्रतिसंख्या ५६ के अंत में आचार्य वसुनन्दी की टीका की समाप्ति में एक प्रशस्ति-पद्य दिया गया है, जिसमें आचार्य कुन्दकुन्द रचित होने की सूचना है [१०]। पं. कैलाशचंद्र शास्त्री ने लिखा है- इसमें संदेह नहीं कि मूलाचार कुन्दकुन्द का ऋणी है, किन्तु कुन्दकुन्दरचित प्रतीत नहीं होता। कुन्दकुन्दरचित नियमसार, प्रवचनसार, समयसार आदि ग्रंथों में जो रचनावैशिष्ट्य, निरूपण की प्रांजलता तथा अध्यात्म का पुट है, वह मूलाचार में नहीं। प्रवचनसार के अंत में आगत मुनिधर्म के संक्षिप्त, किन्तु सारपूर्ण वर्णन से मूलाचार के किन्हीं वर्णनों में उनके साथ एकरूपता भी नहीं है। मूलाचार के समयसाराधिकार में कुन्दकुन्द के समयसार ग्रंथ की छाया भी नहीं है [११]।

मूलाचार की कुछ गाथाएँ आवश्यकनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, जीवसमास तथा आतुरप्रत्याख्यान में मिलती हैं। कुछ गाथाओं का आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रंथों की गाथाओं से भी साम्य है। इस आधार पर कुछ विद्वान् मूलाचार को संग्रहग्रंथ मानते हैं। यथार्थ में ये गाथाएँ उस काल की हैं, जब दिगंबर और श्वेताम्बर भेद का उदय नहीं हुआ था। अतः कुछ गाथाएँ बाद में दोनों संप्रदायों की सम्पत्ति बन गईं। इस प्रकार यह एक संग्रह-ग्रंथ नहीं कहा जा सकता।

वट्टकेर आचार्य का मूल नाम न होकर उनके ग्राम का नाम हो सकता है। दक्षिण में बेट्टकेरिया या बेट्टगेरि नाम वाले कुछ ग्राम अब भी हैं। इसमें संदेह नहीं कि मूलाचार बहुत पुराना है। आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ती में मूलाचार का उल्लेख किया है [१२]। मूलाचार अपनी विषय-वस्तु और भाषा आदि की दृष्टि से तृतीय शती के आसपास का सिद्ध होता है [१३]। इसके बारह अधिकार इस प्रकार हैं--मूलगुण, बृहत्प्रत्याख्यान संस्तरस्तव, संक्षेपप्रत्याख्यान, सामाचार, पंचाचार, पिण्डशुद्धि, षडावश्यक, द्वादशानुप्रेक्षा, अनगारभावना, समयसार, शीलगुण और पर्याप्ति।

शिवार्य - भगवतीआराधना के रचयिता शिवार्य ने जो अपना परिचय दिया है, उससे इतना ही ज्ञात होता है कि आर्य जिननन्दि गणि, सर्वगुप्त गणि और आचार्य मित्रनन्दि के पादमूल में सम्यक् रूप से श्रुत और अर्थ को जानकर हस्तपुट में आहार करने वाले शिवार्य ने पूर्वाचार्यकृत रचना को आधार बनाकर यह आराधना रची। गाथा २१६० में वह 'ससत्तीए' अपनी शक्ति से पूर्वाचार्य-निबद्ध रचना को उपजीवित करने की बात कहते हैं। उपजीवित का अर्थ पुनः जीवित करना होता है, अतः ऐसा भी अभिप्राय हो सकता है कि पूर्वाचार्यनिबद्ध जो आराधना लुप्त थी, उसे उन्होंने अपनी शक्ति से जीवित किया है।[१४]

जैन-परंपरा की किसी पट्टावली आदि में न तो शिवार्य नाम ही मिलता है और न उनके गुरुजनों का नाम मिलता है। भगवज्जिन सेनाचार्य ने अपने महापुराण के प्रारंभ में एक शिवकोटि नामक आचार्य का स्मरण किया है--

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शीतीभूतं जगद्यस्य वाचाऽऽराध्य चतुष्टयम्।
मोक्षमार्गं स पायान्नः शिवकोटिमुनीश्वरः।।

अर्थात् जिनकी वाणी द्वारा चतुष्टयरूप (दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप रूप) मोक्षमार्ग की आराधना करके जगत् शीतीभूत हो रहा है, वे शिवकोटि मुनीश्वर हमारी रक्षा करें।

इस पद्यमें में जो 'आराध्य चतुष्टय' तथा 'शीतीभूत' ये दोनों पद शिव आर्य रचित भगवती आराधना की ही सूचना करते प्रतीत होते हैं, क्योंकि उसी में चार आराधनाओं का कथन है [१५]।

भगवती-आराधना विक्रम की प्रारंभिक शताब्दी के आसपास की रचना होनी चाहिए। अतः उसे कुन्दकुन्द की रचनाओं के समकालीन माना जा सकता है।

भगवती आराधना में आराधना का वर्णन है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप ये चार आराधनाएँ हैं। इनके प्रति आदरभाव व्यक्त करने के लिए भगवती विशेषण लगाया गया है। दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप का वर्णन जिनागम में अन्यत्र भी है, किन्तु वहाँ उन्हें आराधना शब्द से नहीं कहा गया है। इस ग्रंथ में मुख्य रूप से मरणसमाधि का कथन है। मरते समय की आराधना ही यथार्थ आराधना है, उसी के लिए जीवनभर आराधना की जाती है। उस समय विराधना करने पर जीवन भर की आराधना निष्फल हो जाती है और उस समय की आराधना से जीवनभर की आराधना सफल हो जाती है। अतः जो मरते समय आराधक होता है, यथार्थ में उसी के सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप की साधना को आराधना शब्द से कहा जाता है।

कुमार या स्वामी कुमार अथवा कार्तिकेय

ऐसा माना जाता है कि स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा के कर्त्ता कार्तिकेय या स्वामी कार्तिकेय हैं। ग्रंथ के अंत में जो प्रशस्ति-गाथाएँ दी गई हैं, वे निम्न प्रकार हैं--

जिणवयणभावणट्ठं सामिकुमारेण परमसद्धाए।
रइया अणुवेहाओ चंचलमणरुंभणट्ठं च।।
वारस अणुवेक्खाओ भणियाहु जिणागमाणुसारेण।
जो पढइसुणइ भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं।।
तिहुयणपहाणसामि, कुमारकालेण तवियतवयरणं।
वसुपुज्जसुयं मल्लिं चरमतियं संथुवे णिच्चं।।

यह अनुप्रेक्षा नामक ग्रंथ स्वामी कुमार ने श्रद्धापूर्वक जिनवचन की प्रभावना तथा चंचल मन रोकने के लिए बनाया।

ये बारह अनुप्रेक्षाएँ जिनागम के अनुसार कही गई हैं। जो भव्य जीव इनको पढ़ता, सुनता और भावना करता है, वह शाश्वत सुख प्राप्त करता है। यह भावनारूप कर्त्तव्य अर्थ का उपदेशक है। अतः भव्य जीवों को इन्हें पढ़ना, सुनना और विचारना चाहिए।

कुमारकाल में दीक्षा ग्रहण करने वाले वासुपूज्यजिन, मल्लिजिन, नेमिनाथजिन, पार्श्वनाथजिन एवं वर्द्धमान इन पाँचों बाल यतियों का मैं सदैव स्तवन करता हूं।

उक्त प्रशस्ति से स्पष्ट है कि ग्रंथ के लेखक स्वामिकुमार हैं तथा ग्रंथ का नाम वारस अणुवेक्खा है। भट्टारक शुभचन्द्र ने इस पर संवत् १६१३ (ई. सन् १५५६) में संस्कृतटीका लिखी है। इस टीका में अनेक स्थानों पर ग्रंथ का नाम कार्तिकेयानुप्रेक्षा दिया गया है और ग्रंथकार का नाम कार्तिकेय मुनि प्रकट किया गया है। संभवतः कार्तिकेय शब्द कुमार या स्वामी कुमार के पर्यायवाची के रूप में दिया गया है।

वारस अणुवेक्खा में कुल ४९६ गाथाएँ हैं। इनमें बारह अनुप्रेक्षाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार ने वारस अणुवेक्खा के समय के विषय में लिखा है -"मेरी समझ में यह ग्रंथ उमास्वामि के तत्त्वार्थसूत्र से अधिक बाद का नहीं, उसके निकटवर्ती किसी समय का होना चाहिए।" इस प्रकार स्वामी कुमार का समय विक्रम की दूसरी तीसरी शती होना चाहिए।

गृद्धपिच्छाचार्य

आचार्य वीरसेन (जिन्होंने शक सं. ७३८ में धवला टीका समाप्त की थी) ने धवला टीका में तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता के रूप में गृद्धपिच्छ आचार्य का उल्लेख किया है--

तहगिद्धपिंछाइरियप्पयासिदतच्चन्यसुत्ते विवर्तमापरिणामक्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य इदि दव्वकालो परूविदो।

आचार्य विद्यानन्द ने श्लोकवार्तिक में आचार्य गृद्धपिच्छ को ही तत्त्वार्थसूत्र का कर्त्ता माना है -

'गृहद्धपिच्छाचार्यपर्यन्तमुनिसूत्रेण'

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

श्रमणबेलगोला के एक अभिलेख में गृद्धपिच्छ नाम की सार्थकता और कुन्दकुन्द के वंश में उनकी उत्पत्ति बतलाते हुए उनका उमास्वामि नाम भी दिया गया है। यथा –

अभूदुमास्वामि मुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुङ्गवेन॥
स प्राणिसंरक्षणसावधानो बभार योगी किल गृद्धपक्षान्।
तदा प्रभृत्येव बुधा यमाहुराचार्य शब्दोत्तरगृद्धपिच्छम्।

आचार्य कुन्दकुन्द के पवित्र वंश में सकलार्थ के ज्ञाता उमास्वाति मुनीश्वर हुए, जिन्होंने जिनप्रणीत द्वादशांग वाणी को सूत्रों में निबद्ध किया। इन आचार्य ने प्राणिरक्षा हेतु गृद्धपिच्छों को धारण किया। तब से लेकर विद्वान् इन्हें गृद्धपिच्छाचार्य कहने लगे।

इस प्रकार दिगंबरसाहित्य तत्त्वार्थसूत्र के रचयिता को गृद्धपिच्छाचार्य अपरनाम उमास्वामि या उमास्वाति मानता है। ये आचार्य कुन्दकुन्द के शिष्य थे। कुछ पाठभेद के साथ श्वेताम्बर परंपरा भी उमास्वाति की कृति तत्त्वार्थसूत्र को मानती है। इसमें तत्त्वार्थ का सूत्र रूप में विवेचन है, अतः इसे तत्त्वार्थसूत्र कहते हैं। तत्त्वार्थसूत्र के अर्थगाम्भीर्य को देखते इस पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं, जिनमें पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि, वाचक उमास्वातिकृत तत्त्वार्थाधिगमभाष्य, श्रीमद् भट्ट अकलंकदेव कृत तत्त्वार्थवार्तिक, विद्यानंद आचार्यकृत तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, भास्करनंदीकृत भास्करीटीका, श्रुतसागरकृत श्रुतसागरी टीका, द्वितीय श्रुतसागरकृत तत्त्वार्थसुखबोधिनी टीका, विबुधसेनाचार्यकृत तत्त्वार्थटीका, योगीन्द्रदेवकृत तत्त्वप्रकाशिका टीका, गृहस्थाचार्य योगदेवकृत तत्त्वार्थवृत्ति, गृहस्थाचार्य लक्ष्मीदेव कृत तत्त्वार्थ टीका तथा अभयनन्दसूरि कृत टीका विशेष प्रसिद्ध हैं। इन टीकाओं से ही इस ग्रंथ की महत्ता का पता चलता है। प्रोफेसर ए. चक्रवर्ती ने आचार्य कुन्दकुन्द का समय अनेक प्रमाणों के आधार पर ईसा की प्रथम शताब्दी निश्चित किया है। अतः उमास्वामी का समय प्रथम शताब्दी का अंत या द्वितीय शताब्दी का प्रारंभ निश्चित होता है।

आचार्य समन्तभद्र-स्वामी समन्तभद्र (विक्रम की दूसरी, तीसरी शताब्दी) का जन्म क्षत्रियकुल में हुआ था। उनके पिता फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुर के राजा थे। उरगपुर पाण्ड्यदेश की राजधानी जान पड़ता है। श्री गोपालन ने इसकी पहचान उरैप्यूर से की है। श्रवणबेलगोल के विन्ध्यगिरि पर मल्लिषेणरचित एक शिलालेख में कहा गया है[१६] –

कांच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्डः।
पुण्ड्रोण्ड्रे शाक्यभिक्षुः दशपुरनगरे मिष्टभोजी परिव्राट्।
वाराणस्याम बभूवं शशधवधवलः पाण्डुरागस्तपस्वी।
राजन् यस्याऽस्तिशक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी।

मैं काञ्ची नगरी में दिगंबर साधु था। उस समय मेरा शरीर मलिन था। लम्बुशनगर में मैंने अपने शरीर में भस्म लगाई थी, उस समय मैं पाण्ड़रङ्ग था। मैंने पुण्ड्र नगर में बौद्धभिक्षु का रूप धारण किया था। दशपुर नगर में मिष्टान्न भोजी परिव्राजक बना। वाराणसी में आकर मैंने चंद्र समान धवल कांतियुक्त शैव तपस्वी का वेष धारण किया। हे राजन! मैं जैन निर्ग्रन्थ मुनि हूँ, जिसकी शक्ति हो, वह मेरे समक्ष आकर शास्त्रार्थ करे।

इस पद्य से ज्ञात होता है कि परिस्थितिवश आचार्य समन्तभद्र को भिन्न-भिन्न परम्पराओं के अनुसार साधुपद ग्रहण करना पड़ा, किन्तु उनकी यथार्थ श्रद्धा जैन धर्म के प्रति थी। यही कारण है कि उन्होंने गर्व के साथ अपने को कांची का नग्नाटक (नग्न भ्रमण करने वाला) और जैन निर्ग्रन्थवादी कहा है।

आचार्य समन्तभद्र का सम्पूर्ण भारतवर्ष में परिभ्रमण हुआ था। एक पद्य में उनके द्वारा कहलाया गया है कि पहले मैंने पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) नगर में (वाद के हेतु) भेरी बजायी, पश्चात् मालवा, सिन्धु, ठक्क (पंजाब), कांचीपुर (कांजीवरम्) और वैदिश में भेरी-ताडन किया। इसके पश्चात् मैं विद्वानों तथा शूरवीरों से समलङ्कृत करहाटक देश में गया। हे नरपति ! मैं शास्त्रार्थ का इच्छुक हूँ। मैं सिंह के समान निर्भय होकर विचरण करता हूँ।

विक्रम संवत् ८४० में समाप्ति को प्राप्त पुन्नाट-संघीय आचार्य जिनसेन ने आचार्य समन्तभद्र के विषय में लिखा है--

जीवसिद्धिविधायीह कृतयुक्त्यनुशासनम्।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते।

अर्थात् जिन्होंने जीवसिद्धि की रचना कर युक्त्यनुशासन बनाया। उन समन्तभद्र के वचन जिनेन्द्र भगवान् के वचनों के समान वृद्धि को प्राप्त हैं।

यहाँ समन्तभद्राचार्य के वचनों को भगवान महावीर के वचनों के समान बतलाया है, इससे उनकी महत्ता सुस्पष्ट होती है।

भगवज्जिनसेनाचार्य ने उन्हें कविब्रह्म कहकर नमस्कार

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

किया है--

नमः समन्तभद्राय महते कविवेधसे। यद्वचोवज्रपातेन विभिन्निाः कुमताद्रयः ।। आदिपुराण १/४३

कवियों के ब्रह्मस्वरूप समन्तभद्र को नमस्कार हो, जिनकी वाणी रूपी वज्रपात द्वारा कुमत रूपी पर्वत विभिन्न हो जाते हैं।

कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामपि।
यशः समन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते।।आदिपुराण १/४४।।

समन्तभद्र का यश कवियों, गमकों, वादियों तथा वाग्मियों के मस्तक पर चूडामणि के सदृश शोभा को प्राप्त होता है।

जैन-परंपरा में तर्कयुग या न्याय की विचारणा की नींव डालने वाले ये समर्थ आचार्य हुए, जिनकी उक्तियों को विकसित कर भट्ट अकलंकदेव और विद्यानन्द जैसे आचार्यो ने जैन-न्याय की परंपरा का पोषण और संवर्द्धन किया। उनके व्यक्तित्व को उजागर करने वाला यह आत्मपरिचयात्मक पद्य किंचित् भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं लगता, ज़िसमें वे कहते हैं -

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहं।
राजन्नस्यां जलधिवलयामेखलायामिलायां
आज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोऽहं।।

हे राजन! इस समुद्रवलय रूप पृथ्वी पर मैं आचार्य, कवि, वादिराट्, पण्डित, दैवज्ञ, भिषक, मान्त्रिक, तांत्रिक, आज्ञासिद्ध और सिद्धसारस्वत हूँ। मैं आज्ञासिद्ध हूँ, जो आदेश देता हूँ, वही होता है। मुझे सरस्वतीसिद्ध है।

आचार्य समन्तभद्र द्वारा प्रणीत रचनाएँ निम्नलिखित मानी जाती हैं--

१. बृहत् स्वयम्भू स्तोत्र, २. स्तुतिविद्या जिनशतक

३. देवागमस्तोत्र-आप्तमीमांसा ४. युक्त्यनुशासन

५. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ६ जीवसिद्धि ७. प्रमाणपदार्थ

८. तत्त्वानुशासन ९. प्राकृत-व्याकरण १०. कर्मप्राभृत-टीका

११. गन्धहस्ति-महाभाष्य।

सिद्धसेन - विद्वानों ने अनेक प्रमाणों के आधार पर सन्मतिसूत्र के कर्त्ता सिद्धसेन के समय निर्धारण का प्रयत्न किया है, तदनुसार उनका समय पूज्यपाद (विक्रम की छठी शती) और अकलङ्क (विक्रम की ७वीं शती) का मध्यकाल अर्थात् विक्रम संवत् ६२५ के आसपास माना जाता है। सिद्धसेन नाम के एक से अधिक आचार्य हुए हैं। सन्मतिसूत्र और कल्याणमंदिर जैसे ग्रंथों के रचियता सिद्धसेन दिगंबर संप्रदाय में हुए हैं। इनके साथ दिवाकर विशेषण नहीं है। दिवाकर विशेषण श्वेताम्बर संप्रदाय में हुए सिद्धसेन के साथ पाया जात है, जिनकी कुछ द्वात्रिंशिकाएँ, न्यायावतार आदि रचनाएँ हैं। इनका समय सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन से भिन्न है। प्रो. सुखलाल संघवी ने दोनों को एक मानकर उनका काल विक्रम की पाँचवीं शताब्दीं माना है।

जैनसाहित्य के क्षेत्र में दिङ्नाग जैसे प्रतिभासम्पन्न विद्वान् की आवश्यकता ने ही प्रतिभामूर्ति सिद्धसेन को उत्पन्न किया है। आचार्य सिद्धसेन का समय विभिन्न दार्शनिकों के वादविवाद का समय था। उनकी दृष्टि में अनेकान्तवाद की स्थापना का यह श्रेष्ठ अवसर था। अतः उन्होंने सन्मतितर्क की रचना की। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने तत्कालीन नाना वादों को सन्मतितर्क में विभिन्न नयवादों में समाविष्ट कर दिया। अद्वैतवादों को उन्होंने द्रव्यार्थिक नय के संग्रहनय रूप प्रभेद में समाविष्ट किया। क्षणिकवादी बौद्धों की दृष्टि को सिद्धसेन ने पर्यायनयान्तर्गत ऋजुसूत्रनयानुसारी बताया। सांख्यदृष्टि का समावेश द्रव्यार्थिक नय में किया और काणाद दर्शन को उभयनयाश्रित सिद्ध किया[१७]। उनका तो यहाँ तक कहना है कि संसार में जितने वचनप्रकार हो सकते हैं, जितने दर्शन एवं नाना मतवाद हो सकते हैं, उतने ही नयवाद हैं। उन सबका समागम ही अनेकान्तवाद है[१८]। सांख्य की दृष्टि संग्रहनयावलंबी है, अभेदगामी है। अतएव वह वस्तु को नित्य कहे, यह स्वाभाविक है, उसकी वही मर्यादा है और बौद्ध पर्यायानुगामी या भेद दृष्टि होने से वस्तु को क्षणिक या अनित्य कहे, यह भी स्वाभाविक है, उसकी वही मर्यादा है, किन्तु वस्तु का सम्पूर्ण दर्शन न तो केवल द्रव्यदृष्टि में पर्यवसित है और न पर्यायदृष्टि में अतएव सांख्य या बौद्ध को परस्पर मिथ्यावादी कहने का स्वातंत्र्य नहीं है[१९]।

श्रीदत्त - तपस्वी और प्रवादियों के विजेता के रूप में श्रीदत्त का उल्लेख आदिपुराण में किया गया है[२०]। ये वादी और दार्शनिक विद्वान् थे। आचार्य विद्यानन्द ने इनको ६३ वादियों को पराजित करने वाला लिखा है। विक्रम की छठी शती के विद्वान् देवनन्दी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने जैनेन्द्र-व्याकरण में, गुणे श्रीदत्तस्य स्त्रियाम्, (१.४.३४) सूत्र में श्रीदत्त का उल्लेख किया है। इनका समय वि.सं. की ३-४ शती होगा। इनके 'जल्पनिर्णय' नाम के एक ग्रंथ का उल्लेख मिलता है[२१]।

यशोभद्र - प्रखर तार्किक के रूप में जिनसेन ने इनका स्मरण किया है [२२]। इनके सभा में पहुँचते ही वादियों का गर्व खर्व हो जाता है। जैनेन्द्र व्याकरण में क्व वृषिमृजां यशोभद्रस्य (२.१.९९) सूत्र आया है। अत: जिनसेन द्वारा उल्लिखित यशोभद्र और देवनन्दी के जैनेन्द्र व्याकरण में निर्दिष्ट यशोभद्र एक ही हैं तो इनका समय विक्रम संवत् की छठी शताब्दी के पूर्व होना चाहिए [२३]।

आचार्य पूज्यपाद

भारतीय परंपरा में जो अपने समय के विख्यात दार्शनिक, श्रेष्ठ वैयाकरण, लब्धप्रतिष्ठ तत्त्वदृष्टा शास्त्रकार हुए हैं, उनमें सारस्वताचार्य श्री पूज्यपाद स्वामी अपरनाम देवनन्दि, जिनेन्द्रबुद्धि, यश: कीर्ति का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। इन्हें विद्वत्ता और प्रतिभा दोनों का समान रूप से वरदान प्राप्त था। अपने अतलस्पर्श ज्ञानगांभीर्य की अपूर्वता से वह बहुश्रुत की परिधि को पारकर सर्वश्रुत हो गए थे। वे सच्चे अर्थों में स्वपर हित पुण्यात्मा साधु थे और भव्यात्माओं के लिए तारणतरण जहाज थे। जैन-परंपरा में आचार्य समन्तभद्र और सिद्धसेन की कोटि के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे। इन्होंने अपने पीछे जो साहित्य छोड़ा है, उसका प्रभाव दिगंबर और श्वेताम्बर दोनों परंपराओं में समान रूप से दिखाई देता है। यही कारण है कि उत्तरवर्ती प्राय: अधिकतर साहित्यकारों व इतिहासमर्मज्ञों ने इनकी महत्ता, विद्वत्ता और बहुज्ञता स्वीकार करते हुए इनके चरणों में श्रद्धा के सुमन अर्पित किए हैं। आदिपुराण के कर्त्ता आचार्य जिनसेन इन्हें कवियों में तीर्थंकर मानते हुए इनकी स्तुति में कहते हैं-

कवीनां तीर्थकृद्देव: किंतरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम्॥1/52

शिलालेखों तथा दूसरे प्रमाणों से विदित होता है कि इनका गुरु के द्वारा दिया हुआ दीक्षानाम देवनन्दि था, बुद्धि की प्रखरता के कारण इन्हें जिनेन्द्रबुद्धि कहते थे और देवों के द्वारा इनके चरणयुगल पूजे गए थे, इसलिए वे पूज्यपाद इस नाम से भी लोक में प्रख्यात थे। इस अर्थ को व्यक्त करने वाले उद्धरण ये हैं-

प्रागल्भ्यधारी गुरुणा किल देवनन्दी बुद्ध्या पुनर्विपुलया स जिनेन्द्रबुद्धि:।
श्री पूज्यपाद इति चैष बुधै: प्रचख्ये सत्पूजित: पदयुगे वनदेवताभि:।[24]

इन शिलालेखों के अतिरिक्त अन्यत्र[२५] भी पूज्यपाद का अन्य नामों से पुण्यस्मरण किया गया है--

यश: कीर्तियशोनन्दी देवनन्दि महामति:।
श्री पूज्यपादापराख्यो य: स गुणनन्दिगुणाकर:॥

श्री वादिराज कवि ने श्री पूज्यपाद देव का स्मरण करते हुए लिखा है - **अचिन्त्यमहिमादेव: सोऽभिवन्द्योहितैषिणा।**
शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ते साधुत्वं प्रतिलम्भित:[26]॥

इस प्रकार विदित्त होता है कि इनका नाम देव भी था। यह देवनन्दि का संक्षिप्त रूप ज्ञात होता है।

कवि, वैयाकरण एवं दार्शनिक इन तीनों व्यक्तित्वों का आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि में अद्भुत समवाय था। कर्नाटक देश के कोले नामक ग्राम के माधवभट्ट नामक ब्राह्मण और धीदेवी ब्राह्मणी से पूज्यपाद का जन्म हुआ। ज्योतिषियों ने बालक को त्रिलोकपूज्य बतलाया। इस कारण उनका नाम पूज्यपाद रखा गया। पूज्यपाद के पिता ने अपनी पत्नी के आग्रह से जैनधर्म स्वीकार किया था। उन्होंने बचपन में ही एक बगीचे में एक साँप के मुँह में फँसे हुए मेंढक को तड़पता देख वैराग्य से ओतप्रोत होकर मुनिदीक्षा ले ली थी। उन्होंने अपने जीवनकाल में गगनगामी लेप के प्रभाव से कई बार विदेह क्षेत्र की यात्रा की थी। विदेह क्षेत्र में जाकर भगवान सीमंधर की दिव्यध्वनि सुनकर उन्होंने अपना मानवजीवन पवित्र किया था। उनको तप के प्रभाव से औषधि व चारण ऋद्धि प्राप्त थी। श्रवणबेलगोल के एक शिलालेख के आधार से यह भी कहा जा सकता है कि जिस जल से उनके चरण धोए जाते थे, उनके स्पर्श से लोहा भी सोना बन जाता था। उनके चरण-स्पर्श से पवित्र हुई धूलि में पत्थर को सोना बनाने की क्षमता थी।[२६] पूज्यपाद मुनि बहुत समय तक योगाभ्यास करते रहे। फिर एक देवविमान में बैठकर उन्होंने अनेक तीर्थों की यात्रा की। मार्ग में एक जगह उनकी दृष्टि तिमिराच्छन्न हो गई थी, जिसे उन्होंने शान्त्यष्टक का निर्माण कर दूर कर दिया।

शांति: शांति जिनेन्द्र शान्तमनसा त्वत्पादपद्माश्रयात्।
सम्प्राप्ता: पृथिवीतलेषु बहव: शान्त्यर्थिन: प्राणिन:॥
कासायान्मम शाक्तिकस्य च विभो दृष्टिं प्रसन्नां कुरु।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

त्वत्पादद्वयदैवतस्य गदतः शान्त्यष्टकं भक्तितः।।

इस प्रकार स्तवन करते ही उनकी दृष्टि निर्मल हो गई, किन्तु इस घटना का उनके ऊपर ऐसा प्रभाव पड़ा, जिससे उन्होंने तीर्थयात्रा से लौटकर अपने ग्राम में आकर समाधिमरण किया।

पूज्यपाद आचार्य का समय विक्रम की ५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर छठी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के मध्य माना जाता है। उनके द्वारा निर्मित रचनाएँ निम्नलिखित हैं--

१. सर्वार्थसिद्धि, २. जैनेन्द्र-व्याकरण, ३. इष्टोपदेश, ४. समाधितंत्र, ५. दशभक्ति, ६. शान्त्यष्टक, ७. सारसंग्रह, ८. चिकित्साशास्त्र, ९. जैनाभिषेध, १०. सिद्धिप्रियस्तोत्र, ११. जैनेन्द्रन्यास तथा १२. शब्दावतारन्यास।

पात्रकेसरी- स्वामी पात्रकेसरी के समय की सीमा विक्रम की नवम शताब्दी से पूर्व निश्चित रूप से सिद्ध होती है, क्योंकि महापुराण के प्रारंभ में जिनसेनाचार्य ने उनका उल्लेख किया है। दिङ्नाग के त्रैरूप्य हेतु के लक्षण का खंडन करने के लिए उन्होंने त्रिलक्षण-कदर्थन नामक ग्रंथ लिखा, अतः पात्रकेसरी दिङ्नाग (ईसा की पाँचवीं शताब्दी) के पश्चात् होने चाहिए। त्रिलक्षण-कदर्थन विषयक उनका श्लोक निम्नलिखित है--

अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।
नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।

बौद्ध दार्शनिक शान्तरक्षित ने 'तत्त्वसंग्रह' के अनुमानपरीक्षा नामक प्रकरण में पात्रकेसरी के त्रिलक्षणकदर्थन नामक ग्रंथ से कारिकाएँ उद्धृत कर उनकी आलोचना की है। अकलंकदेव भी शांतरक्षित के पूर्व समकालीन थे, अतः उन्होंने भी उस ग्रंथ को देखा होगा। न्यायशास्त्र के मुख्य अंग हेतु आदि के लक्षण का उपपादन अवश्य ही पात्रकेसरी की देन है[२८]।

सुमति - बौद्ध दार्शनिक शांतरक्षित ने अपने ग्रंथ तत्त्वसंग्रह के अंतर्गत स्याद्वादपरीक्षा (कारिका १२६२ आदि) और बहिरर्थ-परीक्षा (कारिका १९४०) में सुमति नामक दिगंबराचार्य के मत की आलोचना की है। सुमति ने सिद्धसेन के सन्मतितर्क पर विवृत्ति लिखी थी, ऐसा स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यह उल्लेख वादिराज सूरि के पार्श्वनाथचरित के प्रारंभ में है और श्रवणबेलगोल की मल्लिषेण-प्रशस्ति में उन्हें सुमतिसप्तक का रचयिता कहा गया है। सुमति का दूसरा नाम सन्मति भी था[२९]।

जोइन्दु - जोइन्दु कवि के जीवन के संबंध में किसी भी साधन से कोई प्रामाणिक सूचना प्राप्त नहीं होती है। परमात्मप्रकाश में बताया गया है कि यह ग्रंथ भट्ट प्रभाकर के निमित्त से लिखा जा रहा है। ग्रंथकार ने लिखा है--

इत्थुण लेवउ पंडियहिं गुणदोसु वि पुणरुत्तु।
भट्ट पमायर कारणइं मइं पुणु वि पउत्तु[३०]।।

अर्थात् हे भव्यजीवो! इस ग्रंथ में पुनरुक्त नाम का दोष पंडितजन ग्रहण नहीं करेंगे और न काव्यकला की दृष्टि से ही इसका परीक्षण करेंगे। यतः मैंने प्रभाकर भट्ट को संबोधित करने के लिए परमात्मतत्त्व का कथन किया है। इस कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भट्ट प्रभाकर कोई मुमुक्षु था, जिसके लिए इस ग्रंथ का प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रंथ मुख्य रूप से मुनियों को लक्ष्य कर लिखा गया है और इसके लेखक भी अध्यात्मरसिक मुनि ही हैं [३१]।

अंतिम मङ्गल के लिए आशीर्वाद रूप में नमस्कार करते हुए लिखा है कि इस लोक में विषयी जीव जिसे नहीं पा सकते, ऐसा यह परमात्मतत्त्व जयवन्त हो। विषयातीत वीतरागी मुनि ही इस आत्मत्त्व को प्राप्त कर सकते हैं। जो मुनि भावपूर्वक इस परमात्मप्रकाश का चिंतन करते हैं, वे समस्त मोह को जीतकर परमार्थ के ज्ञाता होते हैं। अन्य जो भी भव्यजीव इस परमात्मप्रकाश को जानते हैं, वे भी लोक और और अलोक का प्रकाश करने वाले ज्ञान को प्राप्त कर लेते हैं [३२]।

जोइंदु का समय छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। उनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं--१. परमात्मप्रकाश (अपभ्रंश), २. नौकार श्रावकाचार (अपभ्रंश), ३. योगसार (अपभ्रंश), ४. अध्यात्मसंदोह (संस्कृत), ५. सुभाषिततंत्र (संस्कृत) और ६. तत्त्वार्थटीका (संस्कृत)।

परमात्मप्रकाश साक्षात् मोक्षमार्ग का प्रतिपादक है। जिस तरह आचार्य कुन्दकुन्द की नाटकत्रयी है, उसी प्रकार यह भी अध्यात्मविषय की परमसीमा है, क्योंकि ग्रंथकर्त्ता ने स्वयं इस ग्रंथ के पढ़ने का फल लिखा है, इसका सतत् अभ्यास करने वालों का मोहकर्म दूर होकर केवलज्ञानपूर्वक मोक्ष अवश्य ही हो सकता है।

विमलसूरि - पउमचरिय और हरिवंस चरिय के लेखक के रूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में ख्यात आचार्य विमलसूरि यापनीय परंपरा के प्रसिद्ध आचार्य थे। पउमचरिय के उल्लेखानुसार पउमचरिय की रचना प्रथम शताब्दी ई. में हुई थी। डा. हर्मन जैकोबी पउमचरिय को तृतीय शताब्दी ईसवी से पहले का नहीं मानते।

विमलसूरि विजय के शिष्य थे। विजय नाइल कुलवंश के गौरव थे। वे राहु के शिष्य थे। पुष्पिका से सूचित होता है कि पूर्व में वर्णित नारायण और बलदेव के चरित को सुनने के बाद विमलसूरि ने राघवचरित लिखा। पुष्पिका में विमलचरिय को राहु का प्रशिष्य लिखा गया है। राहु नाइल वंश के यथार्थ सूर्य थे। वे महान् आत्मा और पूर्वधर थे। पूर्वधरों की परंपरागत सूची में विमलसूरि का नाम नहीं हैं। श्वेताम्बर-परंपरा कहती है कि महावीर निर्वाण के बाद एक हजार वर्ष तक पूर्वधर होते रहे। विमलसूरि के कुछ विश्वास दिगंबर परंपरासम्मत हैं, तो कुछ श्वेताम्बर सम्मत। इस आधार पर विद्वानों ने उन्हें यापनीय परंपरा का आचार्य माना है। वेलगाँव के दोडवस्ती अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि यापनीयों द्वारा प्रतिष्ठित प्रतिमा दिगंबरों द्वारा पूजी जाती थी। अतः यह माना जा सकता है कि यापनीय संघ के आचार्य दिगंबरों में प्रतिष्ठित थे। विमलसूरि का हरिवंसचरिय वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। पउमचरिय महाकाव्य में जैनदृष्टि से रामकथा वर्णित है।

रविषेण - अठारह हजार अनुष्टुप् श्लोकप्रमाण पद्मचरित के कर्त्ता आचार्य रविषेण ने किसी संघ, गण, गच्छ का उल्लेख नहीं किया है और न स्थानादि की चर्चा की है। अपनी गुरुपरंपरा के विषय में इन्होंने स्वयं लिखा है कि इंद्र गुरु के शिष्य दिवाकर यति थे, उनके शिष्य अर्हद् यति थे, उनके शिष्य लक्ष्मण सेन मुनि थे और उनका शिष्य मैं रविषेण हूँ[३३]। पं. नाथूराम प्रेमी ने रविषेण के सेनान्त नाम से अनुमान लगाया है कि ये शायद सेन संघ के हों और इनकी गुरुपरंपरा के पूरे नाम इंद्रसेन, दिवारकरसेन, अर्हत्सेन और लक्ष्मणसेन हों[३४] । इनके निवासस्थान, माता-पिता आदि के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती है।

पद्मचरित की रचना के विषय में रविषेण ने लिखा है- जिनसूर्य श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र के मोक्ष के बाद एक हजार दो सौ तीन वर्ष छह माह बीत जाने पर श्री पद्ममुनि(राम) का यह चरित लिखा गया है [३५] । पद्मचरित की कथावस्तु के आधार के विषय में रविषेण ने लिखा है कि श्री वर्द्धमान जिनेन्द्र के द्वारा कहा हुआ यह अर्थ इंद्रभूति नामक गणधर को प्राप्त हुआ, अनन्तर धरणीपुत्र सुधर्मा को प्राप्त हुआ, अनन्तर प्रभव को प्राप्त हुआ, प्रभव के अनन्तर कीर्तिधर आचार्यों को प्राप्त हुआ। कीर्तिधर आचार्य के अनन्तर अनुत्तरवाग्मी आचार्य को प्राप्त हुआ तथा अनुत्तरवाग्मी आचार्य का लिखा हुआ प्राप्त कर यह रविषेण का प्रयत्न प्रकट हुआ है [३६]। ग्रंथ के अंतिम पर्व में इसी प्रकार का उल्लेख मिलता है [३६]। तदनुसार समस्त संस्तर के द्वारा नमस्कृत भी वर्द्धमान जिनेन्द्र ने पद्ममुनि का जो चरित कहा था, वही इंद्रभूति (गौतमगणधर) ने सुधर्मा और जम्बूस्वामी के लिए कहा। वही जम्बूस्वामी के प्रशिष्य उत्तरवाग्मी आचार्य के द्वारा प्रकट हुआ। ये उत्तरवाग्मी कौन थे? इनके विषय में अभी तक कोई जानकारी प्राप्त नहीं हुई। इनके द्वारा लिखित रामकथा भी आज उपलब्ध नहीं है। रविषेण दिगंबर परंपरा के अनुयायी थे। इन्होंने पद्मचरित की रचना ७३४ विक्रम (६६७ ई.) में पूर्ण की। जैन परंपरा में इक्ष्वाकुवंशी अयोध्याधिपति दाशरथि रामचन्द्र का अपरनाम पद्म विशेष प्रसिद्ध रहा है। अतएव पद्मचरित का आशय रामचरित, रामकथा या रामायण से है[३८]।

जटासिंहनन्दी - जटाचार्य के नाम से भी इनका उल्लेख मिलता है। ये तपस्वी और कवि थे[३९]। इनका समाधिमरण कोप्पण में हुआ था। कोप्पण के समीप 'पल्लवकीगुण्डु' नाम की पहाड़ी पर इनके चरणचिह्न अङ्कित हैं और नीचे दो पंक्तियों का पुरानी कन्नड़ भाषा का एक अभिलेख उत्कीर्ण है। इनका समय विक्रम संवत् की ७वीं शती है। इनकी एक रचना 'वरांगचरित' नामक उपलब्ध है[४०]।

काणभिक्षु - आचार्य जिनसेन ने काणभिक्षु का कथाग्रंथ रचयिता के रूप में उल्लेख किया है[४१]। अतएव स्पष्ट है कि इनका कोई प्रथमानुयोग संबंधी ग्रंथ रहा है। जिनसेन द्वारा उल्लिखित होने के कारण इनका समय विक्रम संवत् की नवीं शती के पूर्व हैं[४२]।

भट्टाकलंक - भट्ट अकलंक प्राचीन भारत के अद्भुत विद्वान् तथा लोकोत्तर विवेचक ग्रंथकार एवं जैन वाङ्मयरूपी नक्षत्रलोक के सबसे अधिक प्रकाशमान तारे हैं। अकलंक ने न्यायप्रमाणशास्त्र का जैन-परंपरा में जो प्राथमिक निर्माण किया, जो परिभाषाएँ, जो लक्षण व परीक्षण किया, जो प्रमाण, प्रमेय आदि का वर्गीकरण किया और परार्थानुमान तथा वाद, कथा आदि परमत-प्रसिद्ध वस्तुओं के संबंध में जो जैन-प्रणाली स्थिर की, अन्य परम्पराओं में प्रसिद्ध तर्कशास्त्र के अनेक पदार्थों का जैनदृष्टि से जैन-परंपरा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में जो सात्मीभाव किया तथा आगमसिद्ध अपने मन्तव्यों को जिस तरह दार्शनिकों के सामने रखने योग्य बनाया, वह सब छोटे-छोटे ग्रंथों में विद्यमान उनके असाधारण व्यक्तित्व का तथा न्याय प्रमाण स्थापना युग का द्योतक है[४३]।

अकलंक देव का समय ७२०-७८० सिद्ध होता है[४४]। उनके ग्रंथों में अन्य दर्शनों के आचार्यों के साथ बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकरगुप्त, धर्माकरदत्त (अर्चट), शांतभद्र, धर्मोत्तर, कर्णकगोमि तथा शांतरक्षित के ग्रंथों का उल्लेख या प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। अकलंक जैन-न्याय के प्रतिष्ठाता माने जाते हैं। उनके पश्चात् जो जैन ग्रंथकार हुए, उन्होंने अपनी न्यायविषयक रचनाओं में अकलकंदेव का ही अनुसरण करते हुए जैन-न्याय विषयक साहित्य की श्रीवृद्धि की और जो बातें अकलंक देव ने अपने प्रकरणों में सूत्र रूप में कही थीं, उनका उपपादन तथा विश्लेषण करते हुए दर्शनान्तरों के विविध मन्तव्यों की समीक्षा में बृहत्काय ग्रन्थ रचे, जिससे जैन न्याय रूपी वृक्ष पल्लवित और पुष्पित हुआ। अकलङ्कदेव की रचनाएँ निम्नलिखित हैं- १. तत्त्वार्थवार्तिक, २, अष्टशती, ३. लघीयस्त्रय सविवृत्ति, ४. न्याय विनिश्चय, ५. सिद्धिविनश्चय और ६. प्रमाणसंग्रह।

वज्रसूरि - ये देवनन्दी या पूज्यपाद के शिष्य द्राविड़ संघ के संस्थापक जान पड़ते हैं। हरिवंशपुराणकार जिनसेन प्रथम ने इनके विचारों को प्रवक्ताओं या गणधर देवों के समान प्रमाणभूत बतलाया है और उनके किसी ऐसे ग्रन्थ की ओर संकेत किया है, जिसमें बंध और मोक्ष तथा उनके हेतुओं का विवेचन किया गया है। दर्शनसार के उल्लेखानुसार ये छठी शती के प्रारंभ के विद्वान् ठहरते हैं [४६]।

महासेन - इन्हें जिनसेन प्रथम ने सुलोचनाकथा का कर्ता कहा है।

शान्त - इनका पूरा नाम शान्तिषेण जान पड़ता है। इनकी उत्प्रेक्षा अलंकार से युक्त वक्रोक्तियों की प्रशंसा की गई है। जिनसेन प्रथम ने अपनी गुरुपरंपरा का वर्णन करते हुए जयसेन के पूर्व एक शान्तिषेण नामक आचार्य का नामोल्लेख किया है। बहुत कुछ संभव है कि यह शान्त वही शन्तिषेण हों[४६]।

कुमारसेनगुरु - चंद्रोदय ग्रन्थ के रचयिता प्रभाचंद्र के आप गुरु थे। आपका निर्मल सुयश समुद्रान्त विचरण करता था। इनका समय निश्चित नहीं है। चामुण्डरायपुराण के पद्य सं. १५ में भी इनका स्मरण किया गया है। डा. ए.एन. उपाध्ये ने इनका परिचय देते हुए जैन-संदेश के शोधाङ्क १२ में लिखा है कि ये मूलगुण्ड नामक स्थान पर आत्मत्याग को स्वीकार करके कोप्पणाद्रि पर ध्यानस्थ हो गए तथा समाधिपूर्वक मरण किया[४८]।

वीरसेन आचार्य - ये उस मूलसंघ पञ्चस्तूपान्वय के आचार्य थे, जो सेनसंघ के नाम से लोक में विश्रुत हुआ है। ये आचार्य चंद्रसेन के प्रशिष्य और आर्यनन्दी के शिष्य तथा महापुराण आदि के कर्ता जिनसेन के गुरु थे। ये षट्खण्डागम पर बहत्तर हजार श्लोकप्रमाण धवला टीका तथा ायप्राभृत पर बीस हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका लिखकर दिवङ्गत हो गए। जिनसेन ने इन्हें कवियों का चक्रवर्ती तथा अपने आपके द्वारा परलोक का विजेता कहा है। इनका समय विक्रम की ९वीं शती का पूर्वार्द्ध है[४९]। गुणभद्राचार्य के उल्लेख से ज्ञात होता है कि वीरसेनाचार्य द्वारा 'सिद्धभूपद्धति' नामक ग्रंथ की रचना की गई थी।

जिनसेन प्रथम - हरिवंशपुराण के रचयिता आचार्य जिनसेन पुन्नाट संघ के थे। ये महापुराणादि के कर्त्ता जिनसेन से भिन्न हैं। इनके गुरु का नाम कीर्तिषेण और दादागुरु का नाम जिनसेन था। महापुराणादि के कर्त्ता जिनसेन के गुरु वीरसेन और दादा आर्यनन्दी थे। पुन्नाट कर्नाटक का प्राचीन नाम है। इसलिए इस देश के मुनिसंघ का नाम पुन्नाट संघ था। जिनसेन का जन्मस्थान, माता-पिता तथा प्रारंभिक जीवन का कुछ भी उल्लेख उपलब्ध नहीं है। जिनसेन बहुश्रुत विद्वान् थे। हरिवंशपुराण पुराण तो है ही, साथ ही इसमें जैन वाङ्मय के विविध विषयों का अच्छा निरूपण किया गया है। इसलिए यह जैन साहित्यका अनुपम ग्रंथ है [५०]।

श्रीपाल - ये वीरसेन स्वामी के शिष्य और जिनसेन के सधर्मा समकालीन विद्वान् हैं। जिनसेन ने जयधवला को इनके द्वारा सम्पादित बतलाया है। इनका समय विक्रम की ९वीं शती है।

जयसेन - ये उग्रतपस्वी प्रशांतमूर्ति, शास्त्रज्ञ और पण्डितजनों में अग्रणी थे। हरिवंशपुराण के कर्ता जिनसेन ने अमितसेन के गुरु जयसेन का उल्लेख किया है। इनका समय विक्रम की आठवीं शती है। जयसेन के नाम से एक निमित्तज्ञान संबंधी ग्रंथ भी प्राकृत भाषा में लिखा मिलता है, पर यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि आदिपुराणोल्लिखित जयसेन से वह अभिन्न है[५१]।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कवि परमेश्वर – आदिपुराण में कवि परमेश्वर या परमेष्ठी को वागर्थसंग्रह नामक पुराण-ग्रंथ का रचयिता कहा गया है। चामुण्डराय ने अपने पुराण में कवि परमेश्वर के नाम से अनेक पद्य उद्धृत किए हैं। कन्नड़-कवि आदिपम्प, अभिनव पम्प, नयसेन, अग्गलदेव और कमलभव आदि ने आदरपूर्वक कवि परमेश्वर का स्मरण किया है। आचार्य गुणभद्र ने परमेश्वर के कथाकाव्य को छन्द, अलंकार और गूढार्थ युक्त बतलाया है। इनके इस कथा-ग्रंथ की रचना गद्य में बतलाई गई है।[५२]

जिनसेन द्वितीय – पंचस्तूपान्वयी स्वामी वीरसेन के पट्टशिष्य सेनसंघी आचार्य जिनसेन के माता-पिता, जन्मस्थान आदि की कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। जयधवला टीका की प्रशस्ति के अनुसार कर्णच्छेदन से भी पहले इन्होंने वीरसेन स्वामी के संघ में रहना प्रारंभ कर दिया था। आसन्नभव्यता, मोक्षलक्ष्मी की समुत्सुकता और ज्ञानलक्ष्मी के वरण हेतु इन्होंने बाल्यावस्था में ही ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया था। इनका शारीरिक आकार अधिक सुंदर नहीं था और न ये अधिक चतुर थे। श्री, शम और विनय उनके नैसर्गिक गुण थे, जिसके कारण विद्वज्जन भी उनकी आराधना करते थे, क्योंकि गुणों के द्वारा कौन व्यक्ति आराधना को प्राप्त नहीं होता है। वे यद्यपि शरीर से कृश थे, किन्तु तपोगुण से कृश नहीं थे। शरीर से दुर्बल व्यक्ति दुर्बल नहीं होता है, किन्तु जो व्यक्ति गुणों से दुर्बल है, वही वास्तव में दुर्बल है। ज्ञान की आराधना में इनका समय निरंतर व्यतीत होता था, अतः तत्त्वदर्शी उन्हें ज्ञानमयपिण्ड कहा करते थे [५३]। उनके द्वारा रचित कृतियाँ निम्नलिखित हैं-

१. आदिपुराण, २. पार्श्वाभ्युदय, ३. जयधवला टीका, जिनसेन का काल ई. सन् की नवम शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है।

विद्यानन्द – आचार्य विद्यानन्द ७७०-८४० ई. के विद्वान् माने जाते हैं। उन्होंने इतरदार्शनिकों के साथ नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, प्रज्ञाकर तथा धर्मोत्तर इन बौद्धदार्शनिकों के ग्रंथों का सर्वाङ्गीण अभ्यास किया था। इसके साथ ही साथ जैन दार्शनिक तथा आगमिक साहित्य भी उन्हें विपुल मात्रा में प्राप्त था। उनके द्वारा रचित ग्रन्थ निम्नलिखित हैं--१. विद्यानन्द महोदय, २ तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, ३. अष्टसहस्री, ४. युक्त्यनुशासनालङ्कार, ५. आप्तपरीक्षा, ६. प्रमाणपरीक्षा, ७. पत्रपरीक्षा, ८. सत्यशासनपरीक्षा, ९. श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र।

विद्यानन्द महोदय सम्प्रति अनुपलब्ध है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक की रचना तत्त्वार्थसूत्र पर भाष्य के रूप में मीमांसाश्लोकवार्तिक के अनुकरण पर की गई। भट्टाकलङ्क की अष्टशती के गूढ़ रहस्य को समझाने के लिए अष्टसहस्री की रचना की गई। इसके गौरव को आचार्य विद्यानन्द ने स्वयं इन शब्दों में व्यक्त किया है- "हजार शास्त्रों के सुनने से क्या लाभ है, केवल इस अष्टसहस्री को सुन लीजिए। इतने से ही स्वसिद्धान्त और परसिद्धांत का ज्ञान हो जाएगा।" युक्त्यनुशासनालङ्कार आचार्य समन्तभद्र के युक्त्यनुशासन की टीका है। आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा और सत्यशासनपरीक्षा परीक्षान्त ग्रंथ हैं, जो दिङ्नाग की आलंबनपरीक्षा और त्रिकालपरीक्षा, धर्मकीर्ति की संबंधपरीक्षा, धर्मोतर की प्रमाणपरीक्षा व लघुप्रमाणपरीक्षा तथा कल्याणरक्षित की श्रुतिपरीक्षा जैसे परीक्षान्त ग्रंथों की याद दिलाते हैं। विद्यानन्द को परीक्षान्त नाम रखने में इनसे प्रेरणा मिली हो, इसमें आश्चर्य नहीं। पहले शास्त्रार्थों में जो पत्र दिए जाते थे, उनमें क्रियापद गूढ़ रहते थे, जिनका आशय समझना कठिन होता था। उसी के विवेचन के लिए विद्यानन्द ने पत्रपरीक्षा नामक एक छोटे से प्रकरण की रचना की थी। जैन परंपरा में इस विषय की संभवतः यह प्रथम और अंतिम रचना है। श्रीपुरपार्श्वनाथ स्तोत्र की रचना अतिशयक्षेत्र श्रीपुर के पार्श्वनाथ के प्रतिबिम्ब को लक्ष्य में रखकर की गई है।

अष्टसहस्री की अंतिम प्रशस्ति में बताया है कि कुमारसेन की युक्तियों के वर्द्धनार्थ ही यह रचना लिखी जा रही है। इससे ध्वनित होता है कि कुमारसेन ने आप्तमीमांसा पर कोई विवृत्ति या विवरण लिखा होगा। जिसका स्पष्टीकरण विद्यानन्द ने किया है। निश्चयतः कुमारसेन इनके पूर्ववर्ती हैं। कुमारसेन का समय ई. सन् ७८३ के पूर्व माना गया है।[५४]

अनन्तवीर्य – जैन साहित्य में दो अनन्तवीर्यों का नाम मिलता है। इनमें से एक अनन्तवीर्य ने अकलंक के सिद्धिविनिश्चय पर टीका लिखी है। प्रभाचंद्र ने न्यायकुमुदचन्द्र में इनका स्मरण किया है और प्रमेयरत्नमाला में अनन्तवीर्य ने प्रभाचंद्र का स्मरण किया है। इससे सिद्ध है कि दोनों अनन्तवीर्य भिन्न हैं। उत्तरवर्ती होने से प्रमेयरत्नमाला के रचयिता अनन्तवीर्य को लघु अनन्तवीर्य के नाम से भी कहा जाता है। अपने टिप्पण के प्रारंभ में टिप्पणकार ने इनका लघु अनन्तवीर्य देव के नाम से उल्लेख किया है। इन्होंने माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख सूत्रों की संक्षिप्त किन्तु

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विशद व्याख्या की है, साथ ही चार्वाक, बौद्ध, सांख्य, न्यायवैशेषिक, मीमांसा और वेदान्तदर्शन के कुछ विशिष्ट सिद्धांतों का स्पष्ट विवेचन एवं निराकरण किया है। इससे इनके गंभीर पांडित्य का पता चलता है। इनकी एक मात्र कृति प्रमेयरत्नमाला है। अनन्तवीर्य का समय विक्रम की बारहवीं शताब्दी माना जाता है।[५५]

अनन्तकीर्ति – आचार्य अनन्तकीर्ति-रचित लघु सर्वज्ञसिद्धि और बृहत् सर्वज्ञसिद्धि नाम से दो प्रकरण लघीयस्त्रयादि संग्रह में छपे हैं। उनके अध्ययन से प्रकट होता है कि वे एक प्रख्यात दार्शनिक थे। उन्होंने इन प्रकरण्णों में वेदों के अपौरुषेयत्व का खंडन करके आगम की प्रमाणता में सर्वज्ञ प्रणीतता को ही कारण सिद्ध किया है। उन्होंने सर्वज्ञता के पूर्वपक्ष में जो श्लोक उद्धृत किए हैं, उनमें कुछ मीमांसाश्लोकवार्तिक के, कुछ प्रमाणवार्तिक के और कुछ तत्त्वसंग्रह के हैं। प्रभाचंद्र ने न्यायकुमुदचंद्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड के सर्वज्ञसाधक प्रकरणों में अनन्तकीर्ति की बृहत्सर्वज्ञसिद्धि का शब्दपरक अनुकरण किया है[५६]

आचार्य माणिक्यनन्दि – ये जैन-न्याय के आद्य सूत्रकार हैं। इनका समय ईसा की नौवीं शताब्दी है। इन्होंने अकलंक देव के वचनरूपी अमृत का मंथन करके न्यायविद्या रूपी अमृत का उद्धार किया था[५७]। यद्यपि इनकी रचना परीक्षामुखसूत्र का प्रधान आधार समन्तभद्र, सिद्धसेन और अकलंक के ही ग्रन्थ हैं, तथापि सूत्ररचना में विशेष रूप से हेतु के भेद-प्रभेदों के बतलाने में उन्होंने अपने पूर्ववर्ती बौद्धग्रन्थ न्यायविन्दु का भी भरपूर उपयोग किया है [५८]। दोनों ग्रन्थों की तुलना से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

प्रभाचन्द्र – आचार्य प्रभाचन्द्र का काल ९५० ई. से १०२० ई. के मध्य माना जाता है। वे एक बहुश्रुत विद्वान् थे। सभी दर्शनों के प्रायः सभी मौलिक ग्रन्थों का इन्होंने अभ्यास किया था। इतर दर्शनों के ग्रन्थों के उद्धरण के साथ उन्होंने बौद्धों के अभिधर्मकोश, न्यायविन्दु, प्रमाणवार्तिक, माध्यमिकवृत्ति आदि ग्रंथों के उद्धरण दिए हैं। इनके द्वारा लिखित चार ग्रन्थ माने जाते हैं--१. प्रमेयकमलमार्तण्ड, २. न्यायकुमुदचन्द्र, ३. तत्त्वार्थवृत्ति, ४. शाकटायनन्यास। प्रमेयकमलमार्तण्ड माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख नामक सूत्र-ग्रन्थ का विस्तृत भाष्य है। अकलंकदेव के लघीयस्त्रय तथा उसकी विवृत्ति के व्याख्यानग्रन्थ का नाम न्यायकुमुदचन्द्र है। तत्त्वार्थवृत्ति आचार्य पूज्यपादकृत सर्वार्थसिद्धि नामक टीका की लघुवृत्ति है। अंतिम ग्रन्थ शाकटायनन्यास के प्रभाचन्द्रकृत होने का अभी सर्वसम्मत निर्णय नहीं हो सका है।[५९]

वादिराज – ये प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायककुमुचन्द्र के रचयिता प्रभाचन्द्र के समकालीन और अकलंकदेव के ग्रन्थों के व्याख्याता हैं। चालुक्यनरेश जयसिंह की राजसभा में इनका बड़ा सम्मान था। इनका काल १०१० से १०६५ ई. माना जाता है। इनके द्वारा निम्नलिखित ग्रन्थ प्रणीत हुए –१. पार्श्वनाथचरित, २. यशोधरचरित, ३. एकीभावस्तोत्र, ४. न्यायविनिश्चय-विवरण, ५. प्रमाण-निर्णय। इनमें से अंतिम दो दार्शनिक कृतियाँ हैं। न्यायविनिश्चय-विवरण अकलंकदेव के न्यायविनिश्चय ग्रन्थ का बीस हजार श्लोकप्रमाण भाष्य है। बौद्धमत समीक्षा में धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक और प्रज्ञाकर के वार्तिकालंकार की इतनी गहरी और विस्तृत आलोचना अन्यत्र देखने में नहीं आयी। वार्तिकालंकार का आधा भाग इसमें आलोचित है। इसके अतिरिक्त न्यायविनिश्चयविवरण में धर्मोत्तर शांतिभद्र, अर्चट आदि प्रमुख बौद्ध दार्शनिकों की समीक्षा है[६०]। प्रमाणनिर्णय एक लघुकाय ग्रन्थ है। इसके चार प्रकरण हैं- १. प्रमाणनिर्णय, २. प्रत्यक्षनिर्णय, ३. परोक्षनिर्णय, ४. आगमनिर्णय।

गुणभद्र – जिनसेन द्वितीय के पट्टशिष्य आचार्य गुणभद्र थे, जिनका अमोघवर्ष तथा उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय दोनों ही सम्मान करते थे। इन्हें अमोघवर्ष ने अपने पुत्र का शिक्षक नियुक्त किया था। इन्होंने गुरु द्वारा प्रारंभ किए गए महापुराण को संक्षेप में पूरा किया। इनके द्वारा लिखा गया भाग उत्तरपुराण कहलाता है। इसके अतिरिक्त आत्मानुशासन, जिनदत्तचरित आदि ग्रन्थ भी उन्होंने रचे।[६१]

देवसेन - आचार्य देवसेन स्वयं भी गणि थे, अर्थात् गण के नायक थे । ये विक्रम संवत् ९९० में हुए हैं। इन्होंने अपने ग्रन्थों में अपना परिचय नहीं दिया है और न उन ग्रन्थों की रचना का समय बताया है। दर्शनसार ग्रन्थ के पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे मूलसंघ के आचार्य थे। दर्शनसार में उन्होंने काष्ठा संघ, द्राविड संघ, माथुर संघ और यापनीय संघ आदि सभी दिगंबर संघों की उत्पत्ति बतलाई है और उन्हें मिथ्यात्वी कहा है, परंतु मूल संघ के विषय में कुछ नहीं कहा है। अर्थात् उनके विश्वास के अनुसार यही मूल से चला आया है और यही वास्तविक संघ है।[६२] इनके द्वारा ये ग्रन्थ लिखे गए--१. दर्शनसार,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. नयचक्र, ३. आलापपद्धति, ४. श्रुतभवनदीपक, ५. तत्त्वसार, ६. आराधना, ७ धर्मसंग्रह।

अमितगति प्रथम - ये देवसेन के शिष्य और नेमिषेण के गुरु थे। इनके साथ त्यक्तनिःशेषसङ्ग विशेषण प्राप्त होता है। इनका समय विक्रम सं. १००० माना जाता है। इनकी एकमात्र कृति योगसार प्राभृत मानी जाती है।

अमितगति द्वितीय - अमितगति की शिष्य परंपरा का ज्ञान अमरकीर्ति के 'छक्कम्मोवएस' से होता है। इस ग्रन्थ के अनुसार अमितगति (प्रथम) शान्तितिसेण अमरसेन (द्वितीय) श्रीसेन, चन्द्रकीर्ति और अमरकीर्ति इस प्रकार गुरु-शिष्य परंपरा प्राप्त होती है। अमितगति द्वितीय का काल विक्रम संवत् की ११वीं शताब्दी माना जाता है। इनकी रचनाएँ निम्नलिखित हैं -

१. धर्मपरीक्षा, २. सुभाषितरत्नसन्दोह, ३. उपासकाचार, ४. पञ्चसंग्रह, ५. आराधना ६. भावनाद्वात्रिंशिका, ७. चन्द्रप्रज्ञप्ति, ८. सार्द्धद्वयद्वीपप्रज्ञप्ति, ९. व्याख्याप्रज्ञप्ति।

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि - ये आचार्य कुन्दकुन्द के सुप्रसिद्ध ग्रंथ समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय के टीकाकार के रूप में विख्यात हैं। ये टीकाएँ बड़ी प्रौढ़, अर्थगाम्भीर्य पूर्ण तथा ग्रन्थकार के हार्द्र को अभिव्यक्त करने में सक्षम हैं। इनका काल दशवीं शताब्दी का अंतिम भाग माना जाता है। इनकी रचनाओं में अध्यात्म और व्यवहार का सुन्दर समन्वय पाया जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों की टीकाएँ अध्यात्म प्रधान हैं तो उनके साथ व्यवहर का सुमेल स्थापित करने के लिए अपने तत्त्वार्थसार और पुरूषार्थसिद्ध्युपाय का प्रणयन किया वे एक अच्छे स्तुतिकार भी थे। अनेकान्त शैली का आश्रय लेकर २५-२५ छन्दों के २५ अधिकारों में उन्होंने तीर्थंकरों की स्तुति लिखी है। यहाँ वे आचार्य समन्तभद्र की शैली को अपनाते हुए दिखाई देते हैं। पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में हिंसा-अहिंसा का जैसा सूक्ष्म वर्णन है, वैसा अन्यत्र विरल है। अमृतचन्द्रसूरि की निम्नलिखित रचनाएँ हैं--१. पुरुषार्थ सिद्धयुपाय, २. तत्त्वार्थसार, ३. समयसाकलश, ४. समयसारटीका, ५. प्रवचनसार टीका, ६. पंचास्तिकाय टीका और ७. लघुतत्त्वस्फोट।

आचार्य जयसेन (प्रथम) - आचार्य जयसेन प्रथम लाडवागड संघ के आचार्य थे। इनकी गुरुपरंपरा इस प्रकार थी--धर्मसेन के शिष्य शन्तिषेण, शान्तिषेण के गोपसेन, गोपसेन के भावसेन और भावसेन के शिष्य जयसेन थे। इन्होंने अपने वंश को योगीन्द्रवंश कहा है। इनके एकमात्र ग्रन्थ धर्मरत्नाकर में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के १२५ पद्य उद्धृत हैं। आचार्य सोमदेवसूरि के उपासकाध्ययन के भी अनेक पद्य इन्होंने उद्घृत किए हैं। एक पद्य रामसेन के तत्त्वानुशासन का भी उद्धृत है । धर्मरत्नाकर में उसका रचनाकाल विक्रम संवत् १०५५ दिया गया है।

जयसेन (द्वितीय) - आचार्य जयसेन कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार और पंचास्तिकाय ग्रन्थों के सुप्रसिद्ध टीकाकार हैं। इनके गुरु का नाम सोमसेन और दादागुरु का नाम वीरसेन था। इन्होंने त्रिभुवनचन्द्र गुरु को भी नमस्कार किया है। विद्वानों ने इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध या बारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना है। इनकी टीकाओं की शैली आचार्य अमृतचन्द्र से भिन्न है। प्रत्येक गाथा के पदों का शब्दार्थ स्पष्ट करते हुए वे गाथा के अभिप्राय को सरल संस्कृत में अभिव्यक्त करते हैं। इनकी टीकाएँ निश्चय और व्यवहार का समन्वय लिए हुए हैं तथा पारिभाषिक शब्दों के अर्थ इन्होंने अच्छी तरह स्पष्ट किए हैं।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती - आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने अभयनन्दि, वीरनन्दि, इंद्रनन्दि और कनकनन्दि इन चार गुरुओं का स्मरण किया है। ये सभी सिद्धान्तसमुद्र के परगामी थे। बाहुबलिचरित के अनुसार जब चामुण्डाराय अपनी माता के साथ गोम्मटसार की मूर्ति के दर्शन के लिए पोदनपुर गए थे तो नेमिचन्द्र भी उनके साथ थे। नेमिचन्द्र आचार्य को ही यह स्वप्न आया था कि विन्ध्यगिरि पर गोम्मटेश्वर की मूर्ति है। उसके पश्चात् ही चामुण्डराय ने वहाँ मूर्ति की स्थापना की और नेमिचन्द्र के चरणों में चामुण्डराय ने मूर्ति की पूजा के निमित्त ग्राम अर्पित किए, जिनकी आय ९६००० द्रव्यप्रमाण थी। आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती की तीन रचनाएं प्राप्त हैं-- (१) गोम्मटसार, (२) लब्धिसार और (३) त्रिलोकसार। गोम्मटसार और त्रिलोकसार की रचना विक्रम सं. १०३७-४० में हुई है। नेमिचन्द्र देशियगण पुस्तकगच्छ से संबंधित थे। यह कुन्दकुन्दान्वय के नन्दिसंघ की शाखा थी।

माधवचन्द्र त्रैविध्य -आचार्य नेमिचन्द्र के एक शिष्य माधवचंद्र त्रैविध्य थे। उन्होंने अपने गुरु के द्वारा निर्मित त्रिलोकसार ग्रंथ पर संस्कृत में टीका रची थी। उन्होंने अपनी टीकाकार प्रशस्ति

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में कहा है कि अपने गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती को सम्मत अथवा ग्रन्थकर्ता नेमिचंद्र सिद्धान्तदेव के अभिप्राय का अनुसरण करने वाली कुछ गाथाएँ माधवचन्द्र त्रैविध्य ने भी यहाँ वहाँ रची हैं। माधवचन्द्र भी करणानुयोग के पंडित थे। इनकी गणितशास्त्र में विशेष गति थी। इनके द्वारा सिद्ध गणित को त्रिलोकसार में निबद्ध किया गया है और यह गाथा में प्रयुक्त माधवचंदुद्धरिया पद से जो द्व्यर्थक है, स्पष्ट होता है। गोम्मटसार जीवकाण्ड में योगमार्गणाधिकार में इनके मत का निर्देश है। अतः गुरुजनों के साथ शिष्यजन भी इस ग्रन्थरचना-गोष्ठी में सम्मिलित थे।[६३]

इंद्रनन्दि - ये ९३९ ई. में लिखी गई ज्वालामालिनीकल्प के रचनाकार माने जाते हैं। इनके द्वारा रचित श्रुतावतार ग्रन्थ भी प्राप्त होता है।

कनकनन्दि - इनके द्वारा सत्त्वस्थान (विस्तार सत्तरिभङ्गी) की रचना की गई थी।

अभयनन्दि - ये विबुधगुणनन्दि के शिष्य और वीरनन्दी के गुरु थे।

अजितसेन - नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के एक गुरु अजितसेन थे। ये सेनसंघ के आर्यसेन के शिष्य थे। ये चामुण्डराय के पारिवारिक गुरु थे। गङ्गराजा मारसिंह द्वितीय ने ९७४ ई. में अजितसेन गुरु के सान्निध्य में सल्लेखना ग्रहण की थी। अजितसेन ने चामुण्डराय को श्रवणबेलगोला में विन्ध्यगिरि पर बाहुबली प्रतिमा की स्थापना की प्रेरणा दी थी। वे इस प्रतिमा के स्थापनासमारोह के अधिष्ठाता थे। संभवतः नेमिचन्द्र इनके सहायक थे [६४]।

वीरनन्दी - वीरनन्दी असाधारण विद्वान् थे, ऐसा उनकी कृति चन्द्रप्रभचरित के अध्ययन एवं अन्य उल्लेखों से ज्ञात होता है। चन्द्रप्रभचरित के क्रियापदों के देखने स्पष्ट है कि वीरनन्दी का व्याकरणशास्त्र पर पूर्ण अधिकार रहा। द्वितीय सर्ग (श्लो. ४४-११०) यह सिद्ध करता है कि वीरनन्दी जैन व जैनेतर दर्शनों के अधिकारी विद्वान् थे। तत्त्वोपप्लव-दर्शन की समीक्षा के संदर्भ में उन्होंने जो युक्तियाँ दी हैं, वे अष्टसहस्री आदि विशिष्ट दार्शनिक ग्रन्थों में भी दृष्टिगोचर नहीं होतीं। अंतिम सर्ग वीरनन्दी की सिद्धान्त मर्मज्ञता को व्यक्त करता है। चन्द्रप्रभचरित के तत्तत्प्रसङ्गों में चर्चित राजनीति, गजवशीकरण और शकुनअपशकुन आदि विषय उनकी बहुज्ञता को प्रमाणित करने में सक्षम हैं [६५]। इनका काल विक्रम की ग्यारहवीं शती का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है।

आचार्य नरेन्द्रसेन - धर्मरत्नाकार की प्रशस्ति में धर्मसेन, शान्तिषेण, गोपसेन और भावसेन आचार्यों के नाम क्रम से दिए हैं। जयसेनाचार्य भावसेनाचार्य के शिष्य थे। जयसेनाचार्य ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख करके धर्मरत्नाकर की प्रशस्ति समाप्त की है। इस प्रशस्ति के आगे नरेन्द्रसेनाचार्य ने अपने पूर्ववर्ती ब्रह्मसेन, वीरसेन तथा गुणसेन इन तीन और आचार्यों का उल्लेख किया है। नरेन्द्रसेन गुणसेन आचार्य के शिष्य हुए हैं। गुणसेन आचार्य के नरेन्द्रसेन के समान गुणसेन, उदयसेन और जयसेन जैसे अन्य तीन शिष्य थे। प्रथम गुणसेन के पट्ट पर ये द्वितीय गुणसेन आरूढ़ होकर आचार्य पद भूषित करने लगे।

आचार्य नरेन्द्रसेन की दो रचनाएँ प्राप्त होती हैं--(१) सिद्धान्तसारसंग्रह और (२) प्रतिष्ठादीपक। सिद्धान्तसारसंग्रह में रत्नत्रय तथा जीवादि सात तत्त्वों का स्वरूप विधिवत् समझाया गया है। प्रतिष्ठासारदीपक में जिनमूर्ति, जिनमंदिर आदि के निर्माणों में तिथि, नक्षत्र, योग आदि का विचार किया गया है। स्थाप्य, स्थापक और स्थापना इन तीन विषयों का इसमें वर्णन है। पञ्चपरमेष्ठी तथा उनके पंचकल्याणक और जो जो पुण्य के हेतुभूत हैं, वे स्थाप्य हैं। यजमान इन्द्र स्थापक हैं। मंत्रों से जो विधि की जाती है, उसे स्थापना कहते हैं। तीर्थंकरों के पंचल्याणक जहाँ हुए हैं, ऐसे स्थान तथा अन्य पवित्रस्थान, नदी तट, पर्वत, ग्राम, नगरादिकों के सुंदर स्थान में जिनमंदिर निर्माण करना चाहिए।[६६]

आचार्य नरेन्द्रसेन का काल विक्रम संवत् की १२वीं शती का मध्यभाग सिद्ध होता है।

वादीभसिंहसूरि - इनका जन्मनाम ओडयदेव, दीक्षानाम अजितसेन और पाण्डित्योपार्जित उपाधि वादीभसिंह हैं। ये पुष्पसेन मुनि के शिष्य थे। ये तर्क, व्याकरण, छन्द, काव्य, अलंकार और कोश आदि ग्रंथों के मर्मज्ञ थे। इनके वादित्वगुण की समाज में बड़ी प्रसिद्धि थी। इनका काल ८वीं शताब्दी माना जाता है। इन्होंने क्षत्रचूडामणि और गद्यचिन्तामणि नामक दो काव्यग्रंथों का प्रणयन किया। इनमें से प्रथम रचना पद्य में और द्वितीय गद्य में है। श्रवणबेलगोल की मल्लिषेण-प्रशस्ति में इनके दो शिष्यों का उल्लेख पाया जाता है--(१) शान्तिनाथ और (२) पद्मनाभ। संस्कृत-गद्यकारों में जो स्थान बाणभट्ट का है, वही स्थान जैन-संस्कृत-गद्य-लेखकों में आचार्य वादीभसिंह का है। उन्होंने गद्यचिन्तामणि काव्य लिखकर संस्कृत और जैन गद्यकाव्य को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

उत्कृष्टता प्रदान की है। क्षत्रचूडामणि जैसा सूक्तिकाव्य अद्वितीय है, जिसके प्रायः प्रत्येक पद्य में सूक्ति का प्रयोग किया गया है।

पद्मनन्दी – इन्होंने पद्मनन्दिपञ्चविंशतिका के प्रत्येक प्रकरण में अपने नाममात्र का ही निर्देश किया है, इसके अतिरिक्त इन्होंने अपना कोई विशेष परिचय नहीं दिया। इतना अवश्य है कि इन्होंने दो स्थलों पर वीरनन्दी इस नामोल्लेख के साथ अपने गुरु के प्रति कृतज्ञता का भाव दिखलाते हुए अतिशय भक्ति प्रकट की है। इसके अतिरिक्त नामनिर्देश के बिना उन्होंने अनेक स्थानों पर गुरुरूप से उनका स्मरण करते हुए उनके प्रति अत्यधिक श्रद्धा का भाव व्यक्त किया है।

श्री पद्मनन्दी मुनि द्वारा विरचित इन कृतियों के पढ़ने से ज्ञात होता है कि वे मुनिधर्म का दृढ़ता से पालन करते थे। वे मूलगुणों के परिपालन में थोड़ी सी भी शिथिलता को नहीं सह सकते थे। उनका दिगंबरत्व में विशेष अनुराग ही नहीं था, बल्कि वे उसे संयम का एक आवश्यक अंग मानते थे। प्रमाद के परिहारार्थ उन्हें एकान्तवास अधिक प्रिय था। वे अध्यात्म के विशेष प्रेमी थे[५७]। ये विक्रम सं. १०७५ के पश्चात् और १२४० के पूर्व हुए।

शाकटायन पाल्यकीर्ति – ये पाणिनि से ६०० वर्ष पूर्व हुए प्रसिद्ध वैयाकरण शाकटायन से भिन्न हैं। इन्होंने स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति सहित शाकटायन शब्दानुशासन की रचना की है। अमोघवृत्ति के प्रारंभ में में शाकटायन नाम से ही इनका निर्देश किया गया है। शाकटायन का एक अन्य नाम पाल्यकीर्ति भी मिलता है। ये यापनीय संघ के आचार्य थे। वादिराज द्वारा निर्देश होने के कारण इनका समय ई. सन् १०२५ के पूर्व है। इनकी तीन रचनाएँ प्राप्त होती हैं –

१. अमोघवृत्तिसहित शाकटायन-शब्दानुशासन।
२. स्त्रीमुक्ति
३. केवलिमुक्ति

महावीराचार्य – मात्र भारतीय ही नहीं, अपितु विश्व-इतिहास में आपकी विशिष्ट कीर्ति आपकी बहुश्रुत कृति गणितसारसंग्रह के कारण है। ज्योतिष के प्रभाव से पूर्णतः मुक्त पाठ्यपुस्तक की शैली में निबद्ध इस कृति का प्रणयन मान्यखेट के शासक राष्ट्रकूटवंशीय नृपतुंग अमोघवर्ष के राज्यकाल में संभवतः उनके ही राज्यक्षेत्र अथवा उसके समीप विहार करने वाले दि. जैन आचार्य महावीराचार्य ने ८५० ई. के लगभग किया था। आपके जन्मस्थान जन्मवर्ष दीक्षागुरु, दीक्षावर्ष तथा माता-पिता आदि के संदर्भ में इतिहास पूर्णतः मौन है[५८]।

गणितसारसंग्रह गणित की अनेक विशेषताओं को अपने में समाहित किए हुए है। उसका क्षेत्रगणित व्यवहार अनेक विशिष्टताओं से परिपूर्ण है। आपने विविध प्रकार के त्रिभुजों, चतुर्भुजों, वृत्त आदि के क्षेत्रफल ज्ञात करने के साथ ही दीर्घवृत्ति, यवाकार, मुरजाकार, पणवाकार, वज्राकार, एकनिषेध क्षेत्र, उभयनिषेध क्षेत्र, तीन एवं चार संस्पर्शी वृत्तों से आबद्ध क्षेत्र, हस्तदंत क्षेत्र का क्षेत्रफल निकालने के नियम भारतीय गणित में सर्वप्रथम प्रतिपादित किए हैं। दीर्घवृत्त के अतिरिक्त अन्य आकृतियों की तो चर्चा भी सर्वप्रथम आपने ही की। मात्र वृत्त ही नहीं, अपितु गोलीय खण्डों (नतोदर + उन्नतोदर) के आयतन ज्ञात करने के सूत्र भी उपलब्ध हैं।[५९]

मानतुङ्गसूरि – सुप्रसिद्ध भक्तामरस्तोत्र के प्रणेता मानतुङ्गसूरि को कुछ इतिहासज्ञ विद्वानों ने हर्षवर्द्धन के समकालीन बतलाया है। सम्राट् हर्ष का समय सातवीं शताब्दी है, अतः पं. पन्नालाल साहित्याचार्य ने महापुराण की प्रस्तावना (पृ. २२) में आचार्य मानतुङ्ग को ७वीं शताब्दी का लिखा है [६०]। भक्तामरस्तोत्र के रचयिता मूलतः ब्राह्मणधर्मानुयायी और सुकवि थे। बाद में अनेक परिवर्तनों के बाद दिगंबर जैन साधु हो गए थे। उन्हीं ने भक्तामर काव्य बनाया है।[६१] भक्तामर स्तोत्र जैनों में अत्यधिक लोकप्रिय है। अनेक भाई-बहन तो प्रतिदिन भक्तामर का पाठ करके ही आहार ग्रहण करते हैं। आधुनिक हिन्दी में इसके १०० से अधिक पद्यानुवाद हो गए हैं।

महासेनाचार्य

महासेन वाट-वर्गट य लाट-वागड़ संघ के आचार्य थे। प्रद्युम्नचरित की कारञ्जा भंडार में प्राप्त प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि लाट-वर्गट संघ में सिद्धान्तों के पारगामी जयसेन मुनि हुए, उनके शिष्य गुणाकरसेन। इन गुणाकरसेन के शिष्य महासेन सूरि हुए, जो राजा मुञ्ज द्वारा पूजित थे। सिन्धुराज या सिन्धुल के महामात्य पर्पट ने जिनके चरणकमलों की पूजा की थी। इन्हीं महासेन ने प्रद्युम्नचरित काव्य की रचना की और राजा के अनुचर

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विवेकवान् मथन ने इसे लिखकर कोविदजनों को दिया[७२]। महासेन का समय दशवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध है।

हरिषेण

हरिषेण नाम के कई आचार्य हुए। डा. एन.एन. उपाध्ये ने छह हरिषेण नाम के ग्रन्थकारों का निर्देश किया है। बृहत्कथाकोश के रचयिता इन सबसे भिन्न हैं। इन्होंने इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में लिखा है--

यो बोधको भव्यकुमुद्वतीनां निःशेषराद्धान्तवचोमयूखैः।
पुन्नाटसंघाम्बरसंनिवासी श्रीमौनिभट्टारकपूर्णचन्द्रः॥
जैनालयव्रातविराजितान्ते चंद्रावदातद्युतिसौधजाले।
कार्तस्वरापूर्णजनाधिवासे श्रीवर्द्धमानाख्यपुरे वसन् सः॥
सारागमाहितमतिर्विदुषां प्रपूज्यो नानातपोविधिविधानकरो विनेयः।
तस्याभवद् गुणनिधिर्जनताभिवन्द्यः श्रीशब्दपूर्वपदको हरिषेणसंज्ञः॥[७३]

इससे स्पष्ट द्योतित होता है कि इनके गुरु का नाम मौनि भट्टारक था। ये पुन्नाट संघ के आचार्य थे। उनका निवास-स्थान वर्द्धमानपुर था। इनके द्वारा रचित बृहत्कथाकोश, पद्यमय है। २५०० अनुष्टुप् श्लोकप्रमाण है। हरिषेण का समय ई. सन् की १०वीं शताब्दी माना जाता है।

सोमदेवसूरि

राजशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ नीतिवाक्यामृत के रचयिता श्रीमत्सोमदेवसूरि दिगंबर संप्रदाय में प्रसिद्ध देवसंघ के आचार्य थे। आचार्यप्रवर के प्रमुख ग्रन्थ यशस्तिलक तथा नीतिवाक्यामृत के अध्ययन, लेमुलवाड दानपत्र तथा राष्ट्रकूट-नरेश कृष्ण तृतीय के ताम्रपत्र से पर्याप्त जानकारी मिलती है। यशस्तिलक की प्रशस्ति के अनुसार शोमदेव के गुरु का नाम नेमिदेव तथा नेमिदेव के गुरु का नाम यसोदेव था। सोमदेव के गुरु नेमिदेव महान् दार्शनिक थे और उन्होंने शास्त्रार्थ में ९३ महावादियों को पराजित किया था।[७४] नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति के अनुसार सोमदेव महेन्द्रदेव भट्टारक के कनिष्ठ भ्राता थे और उन्हें अनेक गौरवसूचक उपाधियाँ प्राप्त थी, जिनमें स्याद्वादाचलसिंह तार्किकचक्रवर्ती, वादीभपंचानन, वाक्कल्लोलपयोनिधि आदि प्रमुख हैं।[७५]

लैमुलवाड दानपत्र से विदित होता है कि श्रीगौड़ संघ में यशोदेव नामक आचार्य हुए जो मुनिमान्य थे और जिन्हें उग्रतप के प्रभाव से जैनशासन के देवताओं का साक्षात्कार था। इन महान् बुद्धि के धारक महानुभाव के शिष्य नेमिदेव हुए, जो स्याद्वादसमुद्र के पारदर्शी थे और परवादियों के दर्परूपी वृक्षों के उच्छेदन के लिए कुठार के समान थे। जिस प्रकार खान में से अनेक रत्न निकलते हैं, उसी प्रकार उन तपोलक्ष्मीपति के बहुत से शिष्य हुए। उनमें सैकड़ों से छोटे श्री सोमदेव पण्डित हुए जो तप, शास्त्र और यश के स्थान थे। ये भगवान् सोमदेव समस्त विद्याओं के दर्पण, यशोधरचरित के रचयिता, स्याद्वादोपनिषद् के कर्ता तथा अन्य सुभाषितों के भी रचयिता हैं। समस्त महासामन्तों के मस्तकों की पुष्पमालाओं से जिनके चरण सुगन्धित हैं, जिनका यशकमल सम्पूर्ण विद्वज्जनों के कानों का आभूषण है, और सभी राजाओं के मस्तक जिनके चरणकमलों से सुशोभित होते हैं। यशस्तिलक का रचनाकाल विक्रम सं. १०६४ है।[७६] अतः सोमदेवसूरि का समय विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

पद्मप्रभ मलधारिदेव

ये आचार्य कुन्दकुन्द के नियमसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका के रचयिता हैं। इन्होंने अपने आपको सुकविजन रूपी कमलों के लिए सूर्यसमान, पञ्चेन्द्रियों के विस्तार से रहित तथा गात्रमात्रपरिग्रह कहा है। नियमसार के परमार्थप्रतिक्रमण अधिकार के अंत में तथा ग्रन्थ के आदि में इन्होंने श्री वीरनन्दि नामक मुनिराज को नमस्कार किया है। मद्रास प्रांत के 'पटशिवपुरम' ग्राम में एक स्तम्भ पर पश्चिमी चालुक्य राजा त्रिभुवनमल्ल सोमेश्वर के समय का शक सं. ११०७ का एक अभिलेख है, जबकि उसके मांडलिक त्रिभुवनमल्ल, भोगदेवचोल्ल हेजरा नगर पर राज्य कर रहे थे। उसी में यह लिखा है कि जब वह जैन मंदिर बनवाया गया था, तब श्री पद्मप्रभ मलधारिदेव और उनके गुरु श्री वीरनन्दी सिद्धान्तचक्रवर्ती विद्यमान थे। अतएव इन प्रमाणों के आधार पर पद्मप्रभमलधारिदेव का समय ईसवी सन् की १२वीं शताब्दी सिद्ध होता है।[७७]

इनके द्वारा रचित ९ पद्यों का पार्श्वनाथ स्तोत्र भी प्राप्त होता है।

शुभचन्द्र - शुभचन्द्र नाम के अनेक आचार्य, विद्वान् और भट्टारक हुए। एक शुभचंद्र आचार्य सागवाड़ा के पट्ट पर विक्रम संवत् १६०० (ई. सन् १५४४) में हुए हैं। इन्हें षड्भाषाकविचक्रवर्ती

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की उपाधि प्राप्त थी। पाण्डवपुराण, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत-टीका आदि अनेक ग्रन्थ इनके द्वारा बनाए हुए हैं। ज्ञानार्णवकार आचार्य शुभचन्द्र का समय विक्रम संवत् की ११वीं शताब्दी माना जाता है। ज्ञानावर्णव के माहात्म्य के विषय में इन्होंने लिखा है-

ज्ञानार्णवस्य माहात्म्यं चित्ते को वेत्ति तत्त्वतः।
यज्ज्ञानात्तीर्यते भव्यैर्दुस्तरोऽपिभवार्णवः।।४२/८८।।

भव्य जीव जिसके ज्ञान से ही अत्यंत कठिनता से पार करने योग्य संसाररूप समुद्र से पार हो जाते हैं, ऐसे ज्ञानार्णव ग्रंथ का माहात्म्य यथार्थरीति से कौन जानता है?

मुनिरामसेन - रामसेन नाम के अनेक व्यक्ति हुए हैं। मुनि रामसेन तत्त्वानुशासन नामक ग्रन्थ के कर्त्ता हुए हैं। इनका समय विक्रम की १०वीं शताब्दी है । ये नागसेन के शिष्य थे। इन्होंने वीरचन्द्र, शुभदेव, महेन्द्रदेव और विजयदेव से शास्त्रों का अध्ययन किया था। इनके ऊपर आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वाति, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलङ्क और जिनसेन का विशेष प्रभाव पड़ा। तत्त्वानुशासन में ध्यान का विशेष विवेचन है।

माइल्लधवल - माइल्लधवल ने अपने ग्रन्थ की अंतिम गाथाओं में आचार्य देवसेन को अपना गुरु घोषित किया है। उनकी एकमात्र कृति नयचक्र है। इस ग्रन्थ में द्रव्यसंग्रह तथा पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका के एकत्वसप्तति से कुछ उद्धरण प्रस्तुत किए गए हैं। इनका समय ११३६ से १२४३ ई. के मध्य का माना जाता है [६८]।

नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव - नेमिचन्द्र नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। एक नेमिचन्द्र वे हैं, जिन्होंने गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार, क्षपणासार जैसे मूर्द्धन्य सिद्धान्त ग्रन्थों का प्रणयन किया है और जो सिद्धान्तचक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित थे।

दूसरे नेमिचन्द्र, जिनका उल्लेख वसुनन्दि सिद्धान्तिदेव ने अपने उपासकाध्ययन में किया है और जिन्हें जिनागमरूप समुद्र की वेलातरङ्गों से धुले हुए हृदयवाला तथा सम्पूर्ण जगत् में विख्यात लिखा है।

तीसरे नेमिचन्द्र वे हैं, जिन्होंने प्रथम नंबर पर उल्लिखित नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती के गोम्मटसार पर जीवतत्त्वप्रदीपिका नाम की संस्कृत-टीका, जो अभयचन्द्र की मन्दप्रबोधिका और केशवर्णी की संस्कृतमिश्रित कन्नड़ टीका जीवतत्त्वप्रदीपिका इन दोनों टीकाओं के आधार से रची गई है, लिखी है।

दूसरे नेमिचन्द्र ने ही लघुद्रव्यसंग्रह और बृहद्द्रव्यसंग्रह की रचना की है। द्रव्यसंग्रह के संस्कृत टीकाकार ब्रह्मदेव ने द्रव्यसंग्रह नेमिचन्द्र को सिद्धान्तिदेव उपाधि के साथ अपनी संस्कृत टीका के मध्य में तथा अधिकारों के अंतिम पुष्पिकावाक्यों में उल्लिखित किया है। वसुनन्दि और उनके गुरु नेमिचन्द्र भी सिद्धान्तिदेव की उपाधि से भूषित मिलते हैं। अतः असंभव नहीं कि ब्रह्मदेव के अभिप्रेत नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव और वसुनन्दि के गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव एक ही हों[७१]।

अनन्तकीर्ति - अनन्तकीर्ति नाम के अनेक विद्वान् आचार्य हुए हैं। इनमें से १० अनन्तकीर्तियों का परिचय डा. नेमिचन्द्र शास्त्री ने अपने ग्रन्थ 'तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा' में दिया है। बृहत्सर्वज्ञसिद्धि और लघुसर्वज्ञसिद्धि के कर्त्ता अनन्तवीर्य के वैदुष्य का प्रभाव शान्तिसूरि, अभयदेवसूरि तर्कपञ्चानन तथा प्रभाचंद्र आदि आचार्यों पर पड़ा है। आचार्य वादिराज ने पार्श्वनाथचरित में अनन्तकीर्ति का स्मरण निम्न प्रकार किया है -

आत्मनेवाद्वितीयेन जीवसिद्धिनिबध्नता।
अनन्तकीर्तिना मुक्ति रात्रिमार्गेव लक्ष्यते।

इनका समय विद्वानों ने ८४० से १०८२ विक्रम संवत् के बीच माना है।

मल्लिषेण - ग्यारहवीं शताब्दी ईसवी में हुए मल्लिषेण उभयभाषाकविचक्रवर्ती के रूप में विख्यात हैं। इनकी कवि और मन्त्रवादी के रूप में विशेष प्रसिद्धि है। इनकी निम्नलिखित रचनाएँ प्राप्त हैं।

१. नागकुमार काव्य
२. महापुराण
३. भैरवपद्मावतीकल्प
४. सरस्वतीमन्त्रकल्प
५. ज्वालिनीकल्प।
६. कामचाण्डालीकल्प।

महापुराण की रचना धारवाड़ जिले के मूलगुन्द नामक स्थान में की गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन्द्रनन्दि - इन्द्रनन्दि नाम के अनेक विद्वान् आचार्य हो गए हैं। इन्द्रनन्दिसंहिता के रचयिता का नाम विशेष प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त ज्वालामालिनीकल्प के रचयिता एक अन्य इंद्रनन्दि ईसवी सन् की दशवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हो गए हैं। ये वासवनन्दि के प्रशिष्य और वप्पनन्दि के शिष्य थे।

जिनचन्द्राचार्य - 'सिद्धान्तसार' नामक ग्रंथ के रचनाकार जिनचन्द्राचार्य की भास्करनन्दि के गुरु के रूप में पं. नाथूराम प्रेमी ने संभावना की है।[८०] इनका उल्लेख श्रवणबेलगोल के ५५वें शिलालेख में किया गया है।

जिनचन्द्र नाम के एक और आचार्य हो गए हैं जो धर्मसंग्रह श्रावकाचार के कर्त्ता पं. मेधावी के गुरु थे और शुभचन्द्राचार्य के शिष्य थे। ये शुभचन्द्राचार्य पद्मनन्दि आचार्य के पट्टधर थे और पाण्डवपुराण आदि ग्रन्थों के कर्त्ता शुभचन्द्र से पहले हो गए हैं।

श्रीधरसेन - सुप्रसिद्ध दिगंबर जैनाचार्य श्रीधरसेन जैन-वाङ्मय में कोशसाहित्य के रचयिता के रूप में चर्चित हैं। इसका दूसरा नाम मुक्तावलकोश भी है। ये नाना शास्त्रों के पारगामी विद्वान् होने के साथ ही बड़े-बड़े राजपुरुषों के द्वारा पूजित थे। विश्वलोचनकोश में २४५३ पद्य हैं, जो अनुष्टुप् छन्द में रचित हैं। नानार्थकोशों में यह सबसे बड़ा कोश है। इसके कर्त्ता का समय १३५० और १५५० ई. के मध्य अनुमानित किया जाता है।

श्रीधर नाम के अन्य अनेक आचार्य हो गए हैं। एक श्रीधराचार्य ईसवी सन् की आठवीं शती के अंतिम भाग या नवम शती के पूर्वार्द्ध में हुए। इनका उल्लेख भास्कराचार्य केशव, दिवाकर, देवज्ञ आदि ने किया है। इनके द्वारा चार ग्रन्थों की रचना की गयी -

१. गणितसार या त्रिंशतिका, २. ज्योतिर्ज्ञानविधि, ३. जातकतिलक और ४. बीजगणित।

श्रीधराचार्य गणित और ज्योतिष के अच्छे विद्वान् थे।

अन्य आचार्य - उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त दुर्गदेवाचार्य, मुनिपद्मकीर्ति, गणधरकीर्ति, भट्टवोसरि, उग्रादित्याचार्य, भावसेन त्रैविद्य, नयसेन, श्रुतमुनि, माघनन्दि, वज्रनन्दि, महासेन द्वितीय, सुमतिदेव, पद्मसिंह, नयनन्दि आदि अनेक दिगम्बर आचार्य हुए, जिन्होंने विविध विषयों पर साहित्य-सर्जना की।

दक्षिण भारत में दिगम्बर जैन आचार्यों ने द्रविड़ भाषा तमिल, तेलुगू और कन्नड़ के उत्थान में सेवाएँ समर्पित कीं। तोलकाघियम तमिल भाषा के सभी व्याकरण ग्रन्थों का मूल माना जाता है। इसे विद्वानों ने जैनग्रन्थ माना है। इसके कर्त्ता संस्कृत-व्याकरण में तथा साहित्य में निर्विवाद रूप से प्रवीण थे। तिरुक्कुरल एक तमिल नीति-ग्रन्थ है। इसे तमिलवेद भी कहा जाता है। इसके कर्त्ता एलाचार्य कुन्दकुन्द थे। नालडियार एक संग्रहग्रन्थ है, यह भी कुरल के समान समाहत है। शिलप्पदिकारम् चेल के युवराज, जो कि मुनि हो गए थे, की महत्त्वपूर्ण कृति है। यह तमिल के पाँच महाकाव्यों में परिगणित है। पंचमहाकाव्यों में तीन जैनग्रन्थ तथा दो बौद्धग्रन्थों की गणना होती है। अवशिष्ट दो जैन महाकाव्य वलैयापति और जीवकचिन्तामणि हैं। तमिल में पाँच लघुकाव्य भी अतिप्रसिद्ध हैं। ये हैं-यशोधरकाव्य, चूलामणि, उदयनकथै, नागकुमार काव्य और नीलकेशि। ये पाँचों ही जैन रचनाएँ हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेरिच्चारम्, पलनोलि आदि नीतिग्रन्थ, मेरूमंदिरपुराणम्, श्रीपुराणम् आदि पुराण ग्रन्थ, यप्परंगुलक्करिकै, यप्परंगुलवृत्ति, नेमिनाथम्, नानूल आदि व्याकरणग्रन्थ, उच्चनंदिमालै आदि ज्योतिषग्रंथ भी जैन साहित्यकारों की तमिल में महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं[८१]।

उपर्युक्त कृतियों के अतिरिक्त संस्कृत में भट्टारकों ने प्रभूत मात्रा में साहित्यनिर्माण किया। ये भट्टारक प्रारंभ में दिगम्बर मुनि ही हुआ करते थे। धीरे-धीरे इनमें शिथिलाचार बढ़ता गया और ये वस्त्रधारी हो गए तथा राजसी ठाठबाट से रहने लगे, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं की इनके कारण जैन-संस्कृति और साहित्य दक्षिण में सुरक्षित रहा। इस प्रकार भारतीय साहित्य के क्षेत्र में दिगम्बर जैन आचार्यों का महान योगदान है।

सन्दर्भ

१. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा, भाग - २, पृ. ३१
२. डॉ. रमेशचन्द्र जैन, जैन पर्व - पृ. ६६ - ६९
3. The Jain sources of the history of India, P. 114
४. कसायपाहुड़ - पञ्चम भाग, पृ. ३८८
5. The Jain sources of the History of ancient India P. 116
६. कसायपाहुडसुत्त (पं. हीरालाल सद्धान्तशास्त्री द्वारा लिखित

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रस्तावना)
७. कसायपाहुड सुत्त (पं. हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ. २६, २७)
८. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. ४१
९. इति मूलाचारविवृतौ द्वादशोऽध्यायः। कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत-मूलाचाराख्यविवृतिः। कृतिरयं वसुनन्दिनः श्रीश्रमणस्य।। मूलाचारः। भाग २, पृ. ३२४
१०. मूलचाराख्यशास्त्रं वृषभजिनवरोपज्ञमर्हत्प्रवाहादायातं कुन्दकुन्दाह्वयचरमलसच्चारणेसु प्रणीतम्।। तद्व्याख्यां वासुनन्दीमबुधविलिखनावाचनाना या मा सभक्त्या...... संशोध्याध्यैतुमहमिकृतयति कृति.......।।२०५
अनेकान्त वर्ष १३, किरण १, पृ. १८, जुलाई १९५४
११. आचार्य शान्तिसागर जन्मशताब्दी स्मृतिग्रन्थ, पृ. ७७-७८
१२. मूलाचार आइरिया एवं निउणं णिरुवेंति।।
१३. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, पृ. ४५
१४. भगवती आराधना (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना) पृ. ४८
१५. वही, पृ. ४८
१६. श्रवणबेलगोल शिलालेख, सं. ५४
१७. आगमयुग का जैनदर्शन, पृ. २९६-२९७
१८. सन्मतितर्क, ३/४६-४९
१९. वही, १/१०-१२
२०. श्रीदत्ताय नमस्तस्यै तपः श्रीदीप्तमूर्तये।
कण्ठीरवायितं येन प्रवादीभप्रभेदने।। आदिपुराण १/४५
२१. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ. ७
२२. आदिपुराण, १/४६
२३. डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री : आदि पुराण में प्रतिपादित भारत, पृ. ७
२४. श्रवणबेलगोल शिलालेख, सं. १०५, वि. सं. १३२०
२५. नन्दिसंघ की पट्टावली
२६. पार्श्वनाथचरित, सर्ग - १, पद्य १८
२७. श्री पूज्यपाद मुनिरप्रतिमौषर्द्धिः। जीयात् विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः। यत्पादधौतजलसंस्पृशप्रभावात्। कालायसं किल तदा कनकीचकार।।
शिलालेख १०८, शक सं. १३५५
२८. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैनन्याय, पृ. २३-२४
२९. जैनन्याय, पृ. २५
३०. परमात्मप्रकाश, दोहा २/११
३१. भगवान् महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा - भाग- २, पृ. २४५
३२. परमात्मप्रकाश (रामचन्द्र शास्त्रमाला), दोहा - २/२११
३३. आसीदिन्द्रगुरोर्दिवाकरयतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनिः । तस्माल्लक्ष्मणसेनसन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तु स्मृतम्।। पद्मचरित १२३/१६८
३४. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, पृ. ८८
३५. पद्मचरित १२३/१२८
३६. वही १/४१-४२
३७. वही १२३/१६७
३८. डॉ. रमेशचन्द्र जैन : पद्मचरित में प्रतिपादित भारतीय संस्कृति
३९. काव्यानुचिन्तने यस्य जटाः प्रबलवृत्तयः । अर्थान् स्मानुवदन्तीव जटाचार्यः स नोऽवतात् ।। आदिपुराण १/५०
४०. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ. ८
४१. आदिपुराण १/५१
४२. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ. ८
४३. दर्शन और चिन्तन, पृ. ३६५
४४. सिद्धिविनिश्चय टीका - प्र. भाग, प्रस्तावना, पृ. १५
४५. बौद्धदर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, पृ. १०-११
४६. हरिवंश की पं. पन्नालाल साहित्याचार्य द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ. ७
४७. वही, पृ. ८
४८. वही, पृ. ८
४९. वही, पृ. ८
५०. वही, पृ. ३
५१. आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ. १०
५२. वही, पृ. १०
५३. पार्श्वाभ्युदय (डॉ. रमेश चन्द्र जैन द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ. २६-२७)
५४. बौद्धदर्शन की शास्त्रीय समीक्षा
५५. प्रमेयरत्नमाला (प्रस्तावना), पृ. ४४-४५
५६. जैनन्याय, पृ. ३८
५७. प्रमेयरत्नमाला, पृ. ३-४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

५८. प्रमेयरत्नमाला (प्रस्तावना), पृ. ४०
५९. बौद्धदर्शन की शास्त्रीय समीक्षा, पृ. १५
६०. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्यपरम्परा (भाग - ३), पृ. ९१-९२
६१. पार्श्वाभ्युदय (प्रस्तावना पृ. ३१)
डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन : भारतीय इतिहास - एक दृष्टि, द्वि. सं., पृ. ३०२
६२. भावसंग्रह (आचार्य देवसेन का पं. लालारामशास्त्री द्वारा लिखित परिचय, पृ. १-२
६३. गोम्मटसार, जीवकाण्ड (पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ. १०)
६४. वही (डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन द्वारा लिखित प्रधान सम्पादकीय, पृ. ७)
६५. चन्द्रप्रभचरितम् (पं. अमृतलाल शास्त्री द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ. ३०)
६६. सिद्धान्तसार संग्रह (पं. जिनदास शास्त्री फड़कुले द्वारा लिखित प्रस्तावना, पृ. ८, १०)
६७. पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका (प्रस्तावना, पृ. २७)
६८. अर्हत्-प्रवचन, त्रैमासिक, सितम्बर १९८८ (डॉ. अनुपम जैन तथा डॉ. सुरेशचन्द्र अग्रवाल का लेख, पृ. ४१)
६९. वही, पृ. ४४
७०. मिलापचन्द कटारिया, रतनलाल कटारिया : जैन निबन्ध रत्नावली, पृ. ३३८
७१. डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन : भक्तामररहस्य की प्रस्तावना पृ. ३३८
७२. जैन-साहित्य और इतिहास, पृ. ४११ (द्वितीय संस्करण)
७३. बृहत्कथाकोश - सिंधी सीरीज, प्रशस्ति पद्य ३-५
७४. यशस्तिलकचम्पू, आश्वास - २, पृ. ४१८
७५. नीतिवाक्यामृत की प्रशस्ति, पृ. ४०६
नीतिवाक्यामृत में राजनीति, पृ. १३
७६. लेमुलवाड दानपत्र, श्लोक १५-१८
७७. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा, भाग-३, पृ. १४७
७८. नयचक्र, माइल्लधवलकृत - (General Editorial, P.6-7)
७९. पं. दरबारी लाल कोठिया की द्रव्यसंग्रह - प्रस्तावना
८०. सिद्धान्तसारादिसंग्रह (पं. नाथूराम प्रेमी द्वारा लिखित ग्रन्थकर्ताओं का परिचय, पृ. ७)
८१. महावीरजयन्ती स्मारिका, १९८४

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org